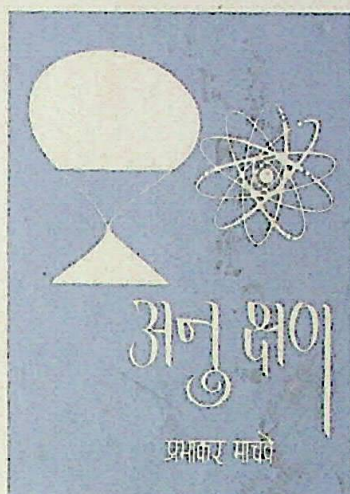
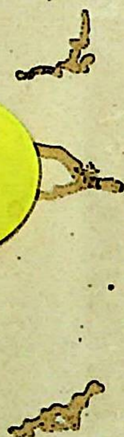



भारतीय ज्ञानपीठ काशी





भारतीय ज्ञानपीठ काशी
की ओर से
सादर भेंट.



ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—८८

# अनु-क्षण

[ १९३२ से १९५६ की चुनी हुई पैंसठ कविताएँ ]

प्रभाकर माचवे



भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ
लोकोदय ग्रंथमाला,
सम्पादक और नियामक :
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०

प्रथम संस्करण
१९५९
मूल्य तीन रुपया

प्रकाशक :
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

रसज्ञ-सुबुद्ध पाठक को

# क्रम-सूची

# द्रुतविलम्बित

गगन में सुरचाप तना कहीं
तरल जीवन - ताप बना कहीं
फलक पै जल-तूलि विराट थी
विविधवर्णमयी छवि आँकती

तपन थी, अति घोर निदाघ था
असहनीय विशाख-विराग था
तब अचानक ही नभ में कहीं
चहुँदिशा पुरबी सहसा बही
बन बवंडर, रोक जिसे नहीं,
पुलकिता असिता विनता मही
असित श्यामल वृष्टि नई हुई
छहर, व्योम सुनील व्यथा गही

उड़ चले निज देश पखेरुआ
मुदित मानस भू-जन का हुआ
हृदय में हरितांकुर जो उगे
मृदुल दूब - समा सपने जगे

भटकती घनसृष्टि दिगन्त में
अटकती कब दृष्टि अनन्त मे ?

१६३३ ]

## स्वर

कवि साग्निक हो वाणी !
न बने निरी प्रचारक चेरी
शुद्ध कला कल्याणी !
आज बज चुकी जब बस भेरी
कैसी करुण कहानी ?

चित्रकार तव तूली !
बन जाये आगत युग की छवि,
किन रंगों में भूली ?
रेखाओं में खिंच आवे पवि
किस गति-श्रम में झूली ?

गायक, ऐसे गाना,
रुद्रवीण गमकार अलापे,
मारू या कि अडाना,
बुनो कि विवसन जगको नापे,
स्वर का तानाबाना ।

१६३४ ]

# षट्पदियाँ

: १ :

इन टूटे तारों ने कैसी मेरी ममता बाँधी
जीवन के खँडहर में उठती निश्वासों की आँधी
उमड़े भावों की सरिता की खींची सीमारेखा
पलकों की छाया में किसने माया का पट देखा

सुप्त वेदना फूँक-फूँक कर करती जाती क्रीड़ा
वंसी की सी फूट पड़ी प्राणों से अब पीड़ा

: २ :

मँडराता क्यों पागल पंछी लूटा पड़ा बसेरा
भग्न लालसा पर करुणा ने अब डाला है डेरा
सूने कंकालों पर बाँधे मनुहारों का झूला
बुझी हुई इस दीपशिखा पर पतंग पागल भूला

अँधियारे में कभी फुदकता जुगनूँ एक अवारा
अट्टहास के साथ टूटता आसमान से तारा—

१९३४ ]

## चिर-प्रवासी प्राण मेरे—

चिर प्रवासी प्राण मेरे कौन सा विश्राम जानें—

गिर रही है नील छाया हेम संध्या पर निशा की
घिर रही गोधूलि तमसा म्लान द्वाभा क्षीण बाकी
आ रहा हूँ दूर से, यह अजनबी परदेश सारा
अपरिचित इस पांथ को भी तुम चली देने सहारा
कौन से विश्वास से तुम आ गई मुझ को मनाने ?

विजन पदपथ, शूल फूटे, गगन में निशि की रुलाई,
शून्यता, जी में व्यथा थी, वायु में जो जा समाई
आज इस निस्संग जीवन में अचानक प्रीति छाई
रोकने वाली विदेशिन, हो भला तुम कौन आई।
हम अथक ही हैं सदा के, क्यों तुम्हारी बात मानें ?

यह न ऐसा पथ जहाँ पर तनिक भी थम जाय चलना
विफल री अनुरोध आग्रह, विफल, अनुनय, मान छलना
जाम पीलें पर न भूलें चेतना अंजाम को भी
क्या पिया मधुमय गरलमय, की न परवाह नाम को भी
चाँदनी को बिछलने दो हम चलें निज धाम पाने—

विनतियाँ कातर तुम्हारी, हृदय भी सुकुमार माना
पर हमें तो एक आज्ञा कामना के पार जाना
धड़कनों में जो बजाता तूर्य सेनानी निरन्तर
वह सुनूँ पहले, तुम्हारी प्रार्थनाएँ सब अनन्तर
हम पढ़े दो-चार गाने बस विदा के ही पुराने—

कल न पल भर को समझते, हम पड़े बिल्कुल बिसाती
हम अकेले ही भले हैं, चाहिए हमको न साथी,
व्रत हमारा खंगधारा, प्यार सब दुर्बल बिसारा,
चल रहा हूँ मैं युगों से दूर पर ज्यों एक तारा
जा रहा हूँ इस निशा को उस उषा तक जा मिलाने—

१६३५ ]

## राही

राही भला किसी का मीत ?
घुमड़-गरज कर बादल आये
चले गये सब रीत
दो पल फुसलाने की बातें
कल्प-कल्प तक बिछोह-रातें
—पंथी, यही नेह की नीत ?
यदि जाना ही था ऐसे तो
आये थे इतने समीप क्यों ?
आज विकल सुधि से कँप-कँप कर रह जाते ये गीत
पलकों की भीगी रोमाली
नयनों ने निज निधियाँ पाली
फिर-फिर घिर-घिर कर आता है बीत गया जो अतीत

—और आज जब शीत
पथ पर बिखरे हैं पतझर के अमित पत्र ये पीत !
मैं चाहूँ हूँ प्रिय आ जाते
रोम-रोम पर यूँ छा जाते
जो मैं हार-हार में मानूँ जीत, अरे मनमीत !

१६३६ ]

## दो रुबाइयाँ

बस गई झलक मधुमूर्ति हिये में घुलकर
रिस गई पलक से पूर्ति पिये की ढुलकर
हरियाव सघन औ' सनम बने परदेसी
हँस गई विथा पल एक हमीं पर खुलकर

दर्द सा उठा पर्दे से अन्तरतम के
सर्द सी आह खिंच गयी अजान सहम के
याद की चली जो पुरवैया इस मौसिम
गर्द सा उठा औ' पलक जलातुर चमके !

१६३६ ]

## गीत

झर-झर बूँदों में बरस पड़ी
मन की युग-युग से संचित निधि ।
यह पावस क्या आया सजनी
यह सजल सलज्ज माया-रजनी
भर-भर पलकों से खिसक चली
रह-रह बरसों की संचित सुधि ।
बिछ गई फूट कर हरियाली
अंगार रहे दिल में आली
वे जाने कब आये कि गये,
जानूँ न विदा की मैं गति-विधि !

१९३६ ]

## गीत

आ गये तुम भूलते से
नैन नीलम-नभ पलक-घन निकट गहरे
दे रहा नित हो सजग मद-कोष-तट पहरे
साँवली-सी पुतलियों पर पलक-पट पहरे
बरुनियों की डाल रेशम-डोरियाँ, पिय, झूलते से
आँसुओं की पैंग भरते, जब, मृगी से, हूल जैसे,
आ गये फिर भूलते से
बरुनियों की खोल साँकल, पुतलियों के द्वार खोले,
हृदयिनी लज्जित वधू-सी सकपकाई, कौन बोले ?
प्राण अपने देश आये पर नया ही वेश जो ले
यह हुआ कौतुक तुम्हें, पर अरुक दुख-गोधूलि मेरे
बिछ गई उर में, पधारे तुम तिमिर आकूल जैसे
आ गये तुम भूलते से
नेह-आसव पी चढ़ी मैं, शूलि भी बन पंखुड़ी सी
हार स्वागत की लिये थी मरणवेला भी गड़ी सी
पंच प्राणों में अगिन सुख दीप तारक फूलते थे
नैन के नभ निकल आये तुम कभी जब भूलते से

१९३६ ]

# दो षट्पदियाँ

१

मध्य-निशाके तिमिर-वक्षपर धुंधले से दो दीप
वैसे ही हम-तुम आये थे कभी अजान समीप
हेतुहीन इस हृदय-गुथन में भला कौन-सा अर्थ ?
मिटते बीती के पदांक, सुकुमार किंतु असमर्थ !

पिछड़ गई, बिछुड़ी स्मृतियाँ भी आयुबालुका में, मनमीत
अब घट-घट से अतीत जीवन रिसता· · ·झरते गीत—

२

मत पढ़ पागल प्राण पुराने स्नेह-मोह के दाग़ बचे से
मत देखे वे स्मृति-मंदिर में मधुक्षण रखे सँभाल रचे से
आज याद कर लेने में भी काँटा सा कसका जाता है
आज बना है दुर्बल बन्दी, अब न रहा उर निर्माता है

जग की दावा में बेजाने दोनों फूल भस्म होने के
किसे पता है, गालों पर रहते कब तक निशान रोने के–?

१६३७ ]

## ताज और फाँसीघर

[ आगरा सेंट्रलजेल के बाहर एक टीला है जहाँ से ताज का गुंबद और फाँसी की काली चौखट एक ही दृष्टि-रेखा में पड़ती है ]

एक ही दृष्टि, एक ही स्थान : मैं देख रहा हूँ दो विधान
रक्तिम रे संझा का सुहाग, जग के जीवन में जाग आग,
वह दूर धवल पाषाण-गीत काली समीप क्रूरता शीत।
वह शाहजहाँ का स्नेह-स्तूप, मन के रूपों का यह स्वरूप,
जीवन-धारा के ये दुकूल प्यार औ' मरण, दो निरी भूल।
दो विकच फूल, दो छिपे शूल··· ज़िंदगी तितलियाँ झूल-झूल!
ये काल-डाल के दो प्रसून, अनुराग लाल—रोली व खून!
बलिका लेखा शोणित समान ये स्मरण-स्फुरण, ये नये गान—
एक ही दृष्टि, एक ही स्थान, मैं देख रहा हूँ दो विधान!

१६३७ ]

# राही और राजकिशोरी

"इन दो पैरोंका मानव नामधारी जन्तु तो सतत प्रवासी है, यह न जाने किस इष्टकी, किस अप्राप्त-प्राप्त की, किस प्रीतमकी टोहमें आज युग-युगसे आ-क्रमण करता जा रहा है, और अभी तक उसका हृदय खाली है, उसकी आँखें विस्फारित, रिक्त और प्यासी हैं।"

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ('कुंकुम' की भूमिकासे)

[ **प्रास्ताविक :**—दृष्टि सान्त है, पथ अनन्त। इसी अर्थमें राही अन्ततः खोजी हो रहता है। जीवन प्रेमकी खोज है। प्रेम प्रभु है। इन सरल तत्त्वोंसे नीचेका काव्य-प्रयास बुना गया है। विषय प्राचीन है, निरूपण नवीन।

भारतीय दर्शनमें और सूफियोंकी सात मंजिलोंने भी इसी तरह आत्माके चिर-प्रवासको माना है। आत्मा राही है। राहमें दुनिया उसे मिलती है, मानो जोगीको राजकुमारी रोक रही है। यहींसे संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व शुरू होता है। कभी राही खिंचता है, फिर प्रवास-तत्पर बनता है। प्रणय और कर्तव्य, वासना और प्रेम, अनुभूति और ज्ञानके बीचके तनावकी वजहसे, राही जिन मानसिक आन्दोलनोंको महसूस करता है, उनमेंसे कुछ नीचे छन्दबद्ध हैं। अतः नीचे कुछ तो कवि यानी तटस्थ दर्शककी राहीके विषयमें उक्तियाँ हैं। कुछ राहीके निजी अनुभव एक-मुखी भाषण (मोनोलोग) या उत्तरोंके तौरपर। कुछ राजकिशोरी 'माया' के प्रश्न और आत्मगत भाषण हैं। सब संवाद प्रगीत मुक्तकोंके रूपमें हैं। ]

## दृश्य प्रथम

(आकाश—कई पक्षियोंका आकर एक पक्षीसे मिलना, धीरे-धीरे उस पक्षीका उस झुण्डसे अलग होते जाना। गाना। एक दूसरे छोटे पक्षीका उसका पीछा करना, गाना। दूरसे शहनाईकी ध्वनि जैसा धीमा पर गम्भीर पार्श्वसंगीत, जैसे कविमनीषीकी वाणी हो……)

राही, जाना देश अजान

केवल है पंखों का भान
न पथ का, दिशि का ज्ञान

उस अजान में पहुँच राह सब
खो जायेंगी, क्योंकि चाह सब

मिट जाती पा पूर्ण प्रकाम
बचे बस साँसों में प्रिय नाम

आये जिन संस्कारों में से
उनसे परे···विकारों में से

ऊपर उठते पंकज प्राण
ध्यान मात्र से भूलें गान

क्षण-क्षण नादित 'चिर' की पगध्वनि
अणु-अणु विश्व-रूपकी छवि-खनि

प्राप्ति या अपनावे का दान
वहीं है अपना देश अजान

रज-रज यहाँ भरा है अचरज
सज-सज आता जहाँ पर सहज

ज्ञान बने अज्ञान !

राही ! जाना देश अजान···

( वह राही-पाखी गाता है )

आज उड़ चलो, संगीपाखी !

इस अनन्त का अन्त नापने, इस अथाह की पाने थाह
नहीं हमें परवाह, मिलेगी धूप प्रखर या छाँह
—कि जब तक डैनों में दम बाकी
आज उड़ चलो संगीपाखी !

'क्या है, क्या है' अगम शून्य से उठती गहिर गुहार
इधर जगत्कान्तार टेरता, मुझको बारम्बार
खींचती प्राणों को इस ओर, घाटियाँ मोहन-माया की
उधर गिरिशृङ्ग-बुलाहट घोर, खड़े जो युग से एकाकी
गहूँगी अब अछोर का छोर मुक्ति ने उत्कट आशा की !

किन्तु, रे, अस्त हुआ दिनमान
क्षितिज पर उतरा रवि-रथ आन
मेट यह स्वप्न और वह ज्ञान
निशा के नभ के नीलम पर सितारों की चादर ढाँकी !
उन्हीं नक्षत्रों के उस पार
दीखता हमको अपना प्यार ।
हो चले इतने से बेजार !
यार, मंजिल है अपनी दूर, दूर है अभी एक झाँकी !
किन्तु, रे, अस्तप्राय दिनमान
पस्त हिम्मत क्यों, प्राण ?
काहे तुम अबही से उदास हो जी ?
हम तो उस शाश्वत खोजी
काहे सोज़ासोज़ी ?
उड़ चलो संगी, रे, मनमौजी !

( इतनेमें दूरसे एक पक्षिणीकी मर्मभेदी पुकार सुनायी देती है । )

आ, तुझे छिपा लूँ पंखों में—

ओ कलङ्क ! आ तुझे लुका लूँ अपने नेह-मयङ्कों में,
शून्य यहाँ सोया नयनों के अनन्त से अङ्कों में—!
इस शाखा पर केवल अपना पत्रनीड़ है
यहीं कहीं पर छिपी हमारी प्रथम पीर है ।
आज प्रेम की छाया में तुम, ओ नन्हे दिल !

कैसे सँभले और सँभाले घाव बिचारी आर्त अबाबिल ?
सुहला सकती है पीड़ा जो हुई याद के दंशों से !
यह विहगी नयी-नयी ही सीखी प्यार किसे कहते हैं
कैसे दो दिल अनायास ही एक दूसरे में रहते हैं
शिकवा नहीं, गिला भी जाने, गाना भोले-से छन्दों में
नहीं पड़ी है कभी प्रेम के क्रूर-सबल पंजों-फन्दों में
सो ले पात-सेजपर, यह सुख क्या महलों में, पर्यंकों में ?
आ, तुझे छिपा लूँ पंखों में—

## दृश्य द्वितीय

( राजकिशोरी एक सूनी दोपहरीमें नदी किनारेके वेणुवनसे केदारा छिड़ा हुआ सुनती है, और स्वरसे वह मोहित होकर, अपनी सहेलीसे उस गायकका पता-ठिकाना पूंछती। भोला विदेशी गायक राजाज्ञासे पकड़कर बुलाया जाता है, उसके मुखपर उसकी पारदर्शी आत्माका भोला प्रतिबिम्ब है, जिसे राजकिशोरी सौन्दर्य कहती है, और चित्रफलक पर उसे उतारना चाहती है। सामीप्य, सालोक्यके पश्चात् जब वह सारूप्यकी चिन्तामें है कि राही—पथ-वासियोंके नियमानुसार चित्रकार्य असफलतामें समाप्त होते ही चल पड़ता है। पहले तीन राजकुमारीके—पहला नाट्य-गीत, दूसरा एकमुखी भाषण, तीसरा स्वगत; और चौथा राहीका गीत है—)

'छेड़ बंसी में केदारा—
कौन गुनगुना गया पौर पर परदेशी पथहारा ?
'तन्द्रा-सी मद-अलस दुपहरी
छाँह सघन कोई मौलश्री
वहीं बैठ कर ढाल गया निज 'लोच' भरी स्वरधारा
जब इतनी आलाप-माधुरी
उन अधरों की कौन बात री ?
सम्मोहन की नयी गारुड़ी—बाजीगर, बेचारा...

ना, वह तो निर्वासित किन्नर
अलका की रूपसि का सहचर
मेघ-मराल न मिले अनिल को दूत बनाकर हारा
मेरे पास न दूत न दूती
कूंची, कलम, बीन, सब थोथी
मेरे सपनों के राजा को कितनी बार पुकारा······
( और सँभल कर ज़ुबान काटी )
'सखि, तज कर लज्जा परिपाटी
कह दे, कौन, कहाँ का था वह, केवल एक इशारा !'
'प्रश्न अनूठा !'—'लो मैं रूठी'
'नहीं जानती ?'—'दुनिया झूठी'
'केवल मैं, मेरा वह सच्चा ! टेरूँ किसके द्वारा ?
बतला आली, कौन गा गया ?
जी के नभ में कौन छा गया—
बरसा धुनि, बन शरद-चाँदनी ?—होगा एक आवारा !'

: २ :

मैं तो छबि निहारते हि भूली, री,
किस रंग से भर लूं तूली ?
ना, वे ही हैं कितने अस्थिर
या तूली ही जाती गिर-गिर
पड़ा चित्रपट खाली-खाली, मैं सपनों में झूली री
नहीं नयन ही निरे निगोड़े
निरख निरख झँप जाते थोड़े
चित्र निकाले विना न छोड़ूँ पर ये कलम ही लूली री
आँकू मैं कैसे छबि भोरी
छोटी-सी तो रंग कटोरी
वह भी मैली और पुरानी—या घिरती गोधूली री

२

कँपी अँगुलियाँ नीची-ऊँची
चित्र फलक पर गिरती कूँची
नन्हा हल्का दाग लग गया—मैं प्रयास ही पे झूली—री
क्यों वहीं से कहा—वाह्, बता
ये अच्छी रीति न चाटुकारिता
खता वन गयी कैसी खूबी कलम बनी सौतिन शूली—री

३

कौन मेरी धड़कनों में मौन रह कर बोलता-सा
कौन सुधि की गाँठ धीरे से नखों से खोलता-सा
याद आयी रुक गई पल भर जुदाई
नयन प्याले ढुल गयी मद भर रुबाई
सुख—सुनहली साँझ पर तमकी सियाही
कौन तारों में निशा की मधु रुलाई तौलता-सा ?
वह रुकेगा ही नहीं—कितना पुकारा
सर्वहारा गिर रही ज्यों वारिधारा
जा रहा किस राह पगला-सा अवारा
कौन आशा की गली में वे-बुलाये डोलता-सा ?

( पथिक राजमहलसे चल देता है और जाते-जाते गा रहा है— )

चल पड़ा हूँ मैं अलक्षित नियमपथ-से ऊब करके···
प्रिय, रहो तुम भी सुरक्षित बन्धनों में डूब करके···
आज निज दायित्व पा लो
चीर पांचाली, सँभालो
एक था कोई अवारा यह न सुधि दिल से निकालो···
और यह सब पाश, बन्धन,
कबतलक विद्रोह - क्रन्दन
लहरिके तूफान जीवन प्यार है, कोई न नन्दन···

किन्तु तुम इनसे परे को—
उठ सदा चलना, न देखो
ओ ध्रुवोज्ज्वल तारिके, यह हो रहा यों विश्व में क्यों ?
विश्व - दुख - कारण - सरणि का
ओर - छोर न अश्रुमणि का
हो द्युलोक निवासिनी तुम, भान दिशि का मैं तरणिका—
चल पड़ा हूँ मैं प्रवासी
ओ नभोगृह के निवासी
अब विदा दो विहँस नेही, रह न जाये आँख प्यासी

### दृश्य तृतीय

राहीका आत्म-निवेदन

मैं जाता हूँ पटरी - पटरी
मेरे पथ की अवरोध न बन, हट री, उठ री !
मैं जाऊँगा पटरी - पटरी···
सब भीड़-वीड़ यह चीर चली
जंजीर तोड़ कर पीर बली।
मेरे जी की तसवीर चली
तज जगती की जड़ चौखट री !
अवसादमयी यादें पिय की,
सब बुझीं, साध भी अब हिय की
पग-धुनि बाँकी बाकी, पिय की।
सुन, वह सुदूर की आहट री !···
अब विफल रूप का मोह मुझे
अभिनयमय आत्म-द्रोह तुझे,
अमधुर आरोहवरोह मुझे।
'तू', सिर्फ हड्डियों की ठठरी।...

अब क्या बगिया जो महकी भी
अब क्या चिड़िया जो चहकी भी
बातें आग्रहमय गृह की भी
सुन कर भी रहूँ निपट शठ री !···
ये बिवाइयाँ अक्षमता की
आशीष चाहिए क्या बाकी
लकुटिया बहुत सुधि-ममता की
फेंक दूँ ज्ञान की गरबीली भारी गठरी ।
मैं जाऊँगा पटरी - पटरी

### कविका गीत

राही, तुम बिल्कुल भोले हो—
वह लो, चार कहार मिले, ले जाते रेशम के डोले हो —
उनमें क्या समझे ? सोना है
या बोझा सा अनहोना है
नहीं, नहीं, पगले, उनमें तो नववधुका डोले हो ।
यह पिंजर जो बड़े जतन से
पाला, लाये दूर वतन से
उसमें 'मैं-ना' ? रे, नैहर की बाबुल - सुधि बोले हो ।
उसमें बैठी वह सुहावनी
मूरत जो है रे मन - भावनि
वह तुमको ही झिझक देखने, जोगा पट खोले हो ।

पर तुम चले - चले जाते हो
तुम तो सदा छले जाते हो
तुम हो निपट गँवार, सुधा के पात्र वृथा ढोले हो
तुम आखिर दुर्बल मानव, कब फेंके मिट्टी के चोले हो !
राही, तुम बेहद भोले हो

## राजकुमारीका गीत

क्यों करते हो मेरे राही,
यों बातें तुम बहकी-बहकी ?
जब चारों ओर जहाँ मैं देखूँ सब्जा ही सब्जा लहकी।
सुधि आती है क्या रह-रह कर ?
क्या होगा कह कर ? चुप सह कर ?
बागों के दामन में चिड़ियाँ फुद्की, फूली, चहकी चहकी
आँसू की बेगारी से क्या ?
तेरी आहोज़ारी से क्या ?
तुझ को दुनियादारी से क्या ?
फुलवारी की क्यारी - क्यारी मस्ताना खुशबू से महकी
गुल्मुहर यहाँ ये मात्र खिले, याँ आगी नै कोई दहकी
तुम क्यों राही यों हँसते हो ?
कहते हो—तुम क्यों फँसते हो ?
कानाफूँसी के मिस आकर,
जब सैटन ग्रसते डँसते हो
तब आदम औ' इव चुप रहते
इस पर तुम राही, हँसते हो ?
अन्याय यहाँ सहनीय बना
अग्राह्य यहाँ ग्रहणीय बना
याँ स्वार्थ सदा स्पृहणीय बना
ऐसे जग से मुँह मोड़ा है, नै वांछा विग्रह संग्रह की

## कविका प्रश्न

राही, देखा ऋतुओं का क्रम ?
देखी मानव की मायूसी, देखा क्या मानव का विक्रम ?
मानवगत मानापमान के
झूठे मूल्यों के प्रमाण के

इतने चलते हिलते मुर्दे साक्षी, है असत्य भ्रम संभ्रम।
जेठ हो कि भादों या फागुन
पत्थर सगुन हुआ है निर्गुन ?
पर तीनों ऋतु, शै-शव जो-बन हुआ न सारथ जरा न अक्षम।
पाखी पिंजर जुदा समझ कर
हाड़ मांस को खुदा समझ कर
आज टिटिहिरी जग-सागर के शोषण का करती निष्फल श्रम
भित्तिहीन आशा से भय क्यों
और निराशा को आश्रय क्यों ?
सब के आगे माना यम है, पर सबके पीछे हैं सुनियम।

### राहीका उत्तर

राही, पथ में क्या पाया, रे
पथवासी ? कंकड़-काँटों से या पाटल से ललचाया रे ?
'पथवासी, हाँ, हमराही थे कुछ रहबर थे कुछ बेगाना
कुछ बना भिखारीपन शाही, आवारापन, पथ अनजाना
पथ की जिज्ञासा इतनी थी, कब भाई मंज़िल-छाया रे ?
कंकड़ पत्थर या खार सही सब चले दुखी को सुहलाने
आ गया आँसुओं का रस ही हम गये हँसी जो मुँह लाने
कब सब्जा बूटों पर, संकट खाई पर जी अटकाया रे !
पाटल थे, हाँ, काँटे भी थे, थोड़ा अभाव था, वैभव था
सपने थे, खुर्राटे भी थे, थोड़ा विनाश था; उद्भव था
जो सोचा सो कब कह पाया, जो कहा कभी कर पाया रे ?

### कविका प्रश्न और राहीका उत्तर

तेरे सफर का अञ्जाम,
राही, क्या भला अञ्जाम ?
केवल सफर या विश्राम ?

राही का कहाँ पर गेह ?
घर-घर मिल रहा सन्देह !
राही जा रहा बेलाग
चाहे धूप हो या मेंह ।
जैसे जा रही हो आग ।
रही का न कोई धाम
उसका धाम बस निज-धाम !

चलते जा रहा ज्यों दूत
है सन्देश गोपन, पूत
राही जा रहा बेदाग
क्या भावी; कि सम्प्रति भूत ?
जैसे राग हो न विराग ।
राही को अगति से काम ?
उसका काम बस निष्काम ।

ज्ञानी से गया वह ऊब
गया अज्ञानियों में डूब
राही जा रहा ज्यों भाग
चाहे शूल हों या दूब
चाहे जेठ हो या माघ
राही का न कोई ग्राम
उसका ग्राम बस संग्राम !

१६३८ ]

## व्यष्टि-समष्टि

व्यष्टि समष्टि समस्या ही क्या ? जो कि व्यष्टि वह ही समष्टि है।
ज्यों न बूँद से खाली बदली, जो कि बूँद है वही वृष्टि है !
अनाद्यन्त यह द्वैत सृष्टि में—एक···अनेक···हरेक दृष्टि में
जो कि एक है वही चाहता है अनेक कैसे बन जाऊँ
जो कि एक नहिं वही विरह की विषम वेदना में जलता है,
जो अनेक है, वही चाहता सतत एक कैसे बन जाऊँ
जो अनेक नहिं वही अचेतन अगति यातना में पलता है !

व्यक्ति यहाँ लहरी है जब है समाज अम्बुधि,
व्यक्ति निमिष-पल, युगातीत यह समाज निरवधि !

व्यक्ति बीज, जब समाज बरगद; बुद्बुद् व्यक्ति, समाज विशद नद
व्यक्ति विटप, अनगिन नीड़ों का निबिडच्छायाप्रश्रय निश्चय
सघन समाज विराट् विजन सा;
पण्य वीथि यह समाज, चलता जिसमें नित-नूतन क्रय-विक्रय,
व्यक्ति पण्य है, मूल्य बँधी है जिसकी मनसा !

विकृति जहाँ एक में आई, हुई दूसरे में झट् अनुकृति !
आज कहूँ मैं विषम किसे रे, कवि का शिकवा दोनों के प्रति !

१६३८ ]

## ठीक दिन के १२ बजे

सूरज है ठीक सरके ऊपर
साया भी सिमटी है डरके भूपर
पुतलीघर···घंटाभर छुट्टी का बजा भोंपू···
जल्दीसे खायेंगे, जुटेंगे पुनः साँचे पर।
सभ्यता हमारी पली इसी वर्ग के खूँ पर!

फुरसद नहीं हाय हमें पीने से
हमको क्या मतलब है जीने से
जनमें हैं इसीसे बस साँसों को ढोते हैं
हमको क्या करना है किसी के पसीने से?

१६३८]

## एक दृश्य

उन काले अछोर खेतों में
हलवाहों के बालकगण कुछ खेल रहे हैं;
पहली झड़ियों से निर्मित कर्दम की गेंदें झेल रहे हैं !
वे बालक हैं, वे भी कर्दम-मिट्टी के ही राजदुलारे ;
बादल पहले-पहले बरसे, बचे-खुचे छितरे दिशिहारे।
सद्यस्नाता हरित-श्यामता, शस्य-बालियों में प्रफुल्लता,
प्रकृति में सौन्दर्य फैलता;
किन्तु गाँववालों के लड़के ये मटमैले, करते धक्कमधक्का।
शिक्षा-संस्कृति-विहीन,
दीन-मलीन, निठल्ले,
क्यों मिट्टी से खेलें ? विद्यामृत कब चक्खा ?
इसका उत्तर स्वयं हमीं में, हमने ही उनको यों रक्खा ;
जो अब उनकी गिनती है प्रेतों में—
उन काले अछोर खेतों में !

१६३८ ]

## गीत—१

पिक सखी, अरी निक गा दो
'नीर वही' बीते 'जो बन' का भादों ?
भरपूर वापी वापी
पर खोल नाच कलापी
साध हमारी सुधि के सुर से साधो
घनघोर झड़ियाँ छूटी
वे-पीर वीर बहूटी
मत मधुरे निज मोहपाश में बाँधो
मृदु दूब अंकुर पनपे
मधु-डूब मेरे मन में
गा अम्बर रागिनि एक बनें सरिता दो

१६३८ ]

## गीत--२

आ गया आषाढ़
जी वन में न जाने कब अचानक आ गई री बाढ़ !
घन किरन के रंग लेकर
पौर-आँगन में क्षितिज पर
सुरकुमारि मृगा रही है रम्य साञ्जी काढ़
जो लता-भुज-बंध बौरे
चाव से झूले झकोरे
झाड़ वे अब तो खड़े हैं मौन एकाकी उजाड़
दिवस में घन-तिमिर-छाया
स्वप्न-तन्द्रा ने बिछाया
घोर निशि-संभ्रम दृगों में, यह हुई घड़ियाँ पहाड़ ।
क्या लिखूँ मैं नेह-पाती
कल न पाती, कर-कँपाती
बढ़ रहा है आज अन्तर में बिछोह प्रगाढ़

१९३८ ]

## वसना

वहुत हुआ मन उड़ना फिरना,
जीवन है तो बसना भी है
अपने ही हाथों से दिल पर यह ज़ंजीरें कसना भी है
आँसू दुनियाँ में न वहाना, पी लेना, चुप, हँसना भी है
जीवन को चिंता ग्रसने जब आई तभी श्याम-वसना है
चपल, बड़ी बलवाली, पेशा तो जिसका केवल हँसना है
इस व्यालिन की इस मायावी मधुलपेट में अब फँसना है
जीवन में हाँ ही हाँ कवतक, बेवस 'ना', बसना भी है

१९३८ ]

## स्मृतिचिह्न

स्मृति-चिह्न हो चले जीर्ण विरल,
पर कितना सुदृढ़ है बन्धन !
मैं भुला-भुलाकर हार गया हूँ
बीती का कातर क्रन्दन ।
सुधि-माल अरुक है मेरु-हीन
गत काल एक गतिमय स्यन्दन ।
मैं शोध-शोधकर हार गया
भावी अजान, लो यह वन्दन !
सुधि की व्यालिनि लपटी-सी,
मन कठिन अलग ज्यों तरु-चन्दन
पर आज करूँ क्या, रुकता ही
है नहीं श्रान्त-उर का स्पन्दन
स्मृति-शिखा जल रही ये अकम्प,
झंझा आये, फिर भी मन्द न ।
बाहर है दावानल भयार्त,
अन्दर छिः खिलता वन नन्दन ।

१९४० ]

## राखी

चिर-उपेक्षामय, असंतोषी, अमर, दो प्राण
तुम अवंध-अखंड-धारा, युग अचल पाषाण !
तुम विमल आकाशगंगा, मैं तिमिर का देश
मेघमय राका तुम्हीं, कंकाल मैं अवशेष !
वेदना की तुम पुजारिन, मैं तुम्हारा ध्यान
अश्रु मैं, फीकी निरन्तर तुम बनो मुसकान।
कंटकावृत आयुपथ की दीप - धारिणि मौन
आज 'आगे बढ़ चलो' कहती चलाती कौन
जीवनी उत्ताल भँवरों में पकड़ कर हाथ
आ रही संदेश - सी या प्रेरणा - सी साथ !
जव किसी दिन, बलि-स्पृहा में चल पड़ेंगे प्राण
याद से पायें तुम्हारी, शूलि पर परित्राण।

याद है शैशव सुनहला, उन दिनों की बात
जब दिनों के बाद मिलते एक कर दिन-रात
बोलना सकता न था, अब वह मधुरिमा, आह,
शूल-सी आकर हिये में चुभ रही अनचाह।
आज राखी के बहाने कह रही बे-लाज :
निठुर जीवन, निठुर जगती, छिः नृशंस समाज।
दुःख की चिर-आर्द्र घाटी में, सरल अनजान
विह्वले, 'बहना' अलक्षित, जोग-जीवन दान
विश्व के तुम सह चली संताप, सब आघात
पर कहाँ पाऊँ तुम्हारी सी भला मैं बात ?

दूर हो तुम, आज कितने पास, कर में पाश
आज सावन की सजल पूनों, सघन आकाश !
दूर है बिखरे सुनहले श्याम नीले अभ्र
दूर वे यादें, करूँगा कब तलक मैं सब्र
यह हुई रक्षा, न उलटे बहिनि, आँचर थाम
मैं खड़ा हूँ रोकने लोचन - घटा अविराम
श्याम यह पुतली न धुल-धुल हो चले बेकाम
एक तेरा और बंधन, मैं अनाम गुलाम !
काश तुम बनती प्रत्यंचा स्फूर्तिमयि, मैं बाण ।
शीघ्र जूठन-साग दो, करना मुझे रण को प्रयाण ।
चिर उपेक्षामय, असंतोष अमर दो प्राण

१९३८ ]

# मार्क्स और गांधी

एक है विश्व के सत्य-सूत्र का संशोधक, करुणालु संत
दूसरा जगज्जीवन के वास्तव का कठोरतम कलाकार।
चाहा दोनों ने जीवन में पा लें जीवन का आदि-अंत
दोनों ने चाहा हो विलास का नाश,साम्य का हो प्रचार।
चल पड़ा एक लेकर, विरक्त, जगबंधुभाव यह शान्तिदूत
आयें क्षारार्णव लक्ष-लक्ष, चाहें बाधा बन, राह रोक
बनती ऐहिक यमनियमों से न कभी मर्यादा आत्मपूत
असिधारव्रती की आत्मा में व्यापा हिमाद्रि का स्थिरालोक।
चल पड़ा दूसरा रक्त-आर्द्र जगबंधुभाव का क्रान्तिदूत
आयें पथ में जो कोटि-कोटि शासन-नृशंस के गरलदंश
क्षणभर न रुका वह तीक्ष्ण-प्रबल जीवनीशक्ति का महास्रोत
वल्गा की भीषण वन्या-सा कर चला रूढ़ि-संस्कार-ध्वंस।
खो निज को खोज रहा है जो अज्ञेय सत्य का ओर-छोर
मन की स-स्नेह श्रद्धा का ले दीपक विभोर लख रहा भोर
युगयुग का यात्री भिक्षुभाव से चला नापते दीन देश
ले प्रेमसूत्र करघेवाला जोगी यह धारे आर्त-वेश!
वह बोला—'कैसा खुदा? ख्वाब; मज़हब? मदिरा; अध्यात्म? शब्द
सब कुछ संकल्पी मानव की उपलब्धि, झूठ प्रारब्ध सिद्ध!
जी लो, कर लो इस मुट्ठीभर मिट्टी से ही मरणान्त प्यार
जिसके 'चमड़े की हाय' विकट, जिसकी आकांक्षाएँ अपार।
वह प्राणों का उल्लास तौल चल पड़ा बदलने अर्थमूल्य
निर्माल्य मानकर चला कीर्ति औ' सिक्कों को यह क्षणिक धूल!
श्रम की वह थी साकार मूर्ति, आश्रम की यह प्राकार-स्फूर्ति

३

दोनों जीवन में हैं अपूर्त, प्रभु जाने बैठी कहाँ पूर्ति ?
धृति-संयम का अनुरोध यहाँ, उसको था प्यारा बस विरोध
दोनों बोले—'बस, बढ़े चलो, दोनों का जन-आनंद-शोध
जाने किस पथ में सुख की प्राप्ति कि क्रोध भला है या निरोध ?
गाँधी दिलके सहजाकर्षण, मार्क्स दिमाग की 'ओवर - ग्रोथ'
दोनों ने पाया लोक-प्रेम, दोनों ने झेला कष्ट खूब
दोनों जीवन में गये डूब, जीवन न एक से गया डूब

'कह गये बुद्ध शून्य है सभी, कह गये उमरखय्याम यही
पर जगदुद्धारक धीरों की बोनापार्टी गति रुकी नहीं'।
वल्गा बर्फानी वैसी ही औ' साबरमती वही उमही,
पैगम्बर लाखों आयें और गये, पर दुनिया वहीं रही !'

(छन्दावर्तन)

किसी निराशावादी कवि ने खीझ भले ही यों कह डाला
पर न कभी वह 'धुर का भेदी' जग-उद्धारक रुकने वाला
उसने अथिर निराशा-आशा की चिन्ता की नहीं ज़रा भी
मानवता के तरुमूलों में आपा सींचा, रहा खरा भी !
तब लघु बीज, अगिन विटपों की सफल कोख वह तो अविनाशी
जिसकी छाया में पलते हैं शत-शत पंखिल कोटरवासी !
उसने रोम-रोम निजता का होम दिया, जग-व्योम छा लिया
निरी विभूति किन्तु जलने पर, सब तज मानो सभी पा लिया !
इस कारण इन दोनों महान् आत्माओं के आगे नतशिर
छिन हों लें, फिर पन्थ सुधारें, चाहें आलोचना करें फिर
दोनों ही सत्यांश मान लो, दोनों पूरक अरे परस्पर
दोनों ने चाहा है जग की व्यथा बाँट लो, बना विश्व घर !
दोनों ही श्रद्धेय, क्योंकि जीवन में दोनों ही आवश्यक
कुछ गर्मी हो, कुछ ठंडापन, कुछ विश्वास और कुछ-कुछ शक !
कुछ हो गूढ और कुछ चेतन, कुछ हो मूढ और कुछ जड़ भी

कुछ हों शाखाएँ, कुछ जड़ हो, कुछ अनुशासन कुछ गड़बड़ भी
भावुकता ही सब-कुछ हो न, स्वस्थ मन की कुछ हो फड़फड़ भी
भाई, जीवन है, न यहाँ है चिर-वसंत या चिर-पतझड़ भी !
हम कहते हैं यह हो, वह हो, कुछ न मिले फिर भी अकुलाहट
हम न अधूरे के संतोषी, हमें पूर्ण प्यास बुलाहट !
रसरी के आने-जाने से पाहन पर खिंचती लकीर तक
और रहे ज़िन्दों की दुनियाँ अप्रभाविता यों अखीर तक !
उस दुनियाँ के ज़िन्देपन के खातिर सही जिन्होंने सूली
दुनिया उनकी ही भूखी है, दुनिया उन पर ही है भूली !
ओ प्रत्याशा लोभी साधारण जन, तेरी राह नहीं यह
उनको तेरी है यद्यपि तुझको उनकी परवाह नहीं अः
ध्येय रहे अप्राप्य सदा को, उसमें ही उसका आकर्षण
वह है क्षितिज और ध्रुवतारक, पथप्रतारक सदा सुदर्शन

वह चाहे जंगल - डाढी वाली यहूदियत की गठरी हो
और यहाँ खद्दर की चद्दर ढँकी हड्डियों की ठठरी हो
तानाशाहों के चंगुल में उधर भले वल्गा हों ऐंठी
गंगा सिन्धु भले न अनुभवें कंप न किन्तु दुनियाँ उठ बैठी ।
कहो न भारत सोया, पश्चिम जगा, बात यह सब बेमानी
उधर यहूदी-रक्त सना जो बहता है राइन का पानी !
स्वस्तिक राजा के 'हर-हर' पर रणोन्माद-फन डोल रहा है
नीत्शे वाला सुपरमैन जग 'मैइनकाम्फ' में बोल रहा है ।
कौन सभ्य है, और कौन है बर्बर ? किसके पास तुला है ?
किस का दावा पूर्ण सिद्धि का, किसके लिए न स्वर्ग खुला है ?
मानव-मानव में विभेद क्यों, स्वर्ग-नरक में वर्गान्तर क्यों ?
प्रभु ने या जड़ प्रकृति ने क्या भिन्न बनाये अभ्यंतर यों ?
'नहीं !' मनुज की ही करनी है, मनुज-मनुज को सोख रहा है ।
प्रभु इस शैतानी लीला को चुपके बैठा जोख रहा है

या कह लो चेतन इस जड़ की अतिव्याप्ति को निरख रहा है।
दुनिया का लट्टू अपनी ही धुन पर यक-सां थिरक रहा है!

एक अग्नि-स्फुल्लिंग उजागर, दूजा उदधि-उदर की ज्वाला।
एक अश्रु को पीने वाला, एक अश्रु को देश-निकाला!
एक शस्त्र-टंकार महा-भय, दूजा हृदय-हृदय का निर्णय
दोनों जय-जय, दोनों शाश्वत-संचय और अशाश्वत के लय।
एक जगज्जेता तो दूजा आत्मजयी; दोनों ही द्रष्टा।
एक तड़ित्तर्जन, वर्षा वह, एक प्रलय है, दूजा स्रष्टा!
दोनों व्रती और साधक, पाया न जिन्होंने सत्य का पता
दोनों ने पकड़ी दो राहें, जो आ मिलती नित्य अन्ततः!

१९४० ]

## रोम्याँ रोलाँ के प्रति—

ओ युग-युग के साहित्य रचयिता,
औ' स्वतन्त्र चिन्तक महान् !
( पढ़ कर आया हूँ समाचार
रोलाँ का कल देहावसान
जर्मन कन्सेण्ट्रेशन कैम्पों में
कहीं एक में हुआ ) किन्तु
वाणी तेरी जो अनवरुद्ध,
कैसे बाँधेंगे श्वास - तन्तु ?
तानाशाहों के ये बन्धन
अशरीरी वाणी पर कैसे ?
शमशेर राज कर पाय आज
चिन्ता - कल्याणी पर कैसे ?
तुम अमर-प्राण, तुम 'अक्षर' के
स्रष्टा, तुम तो हो शान्ति-दूत
तुम भारत के टिप्पणीकार,
तुम जन-जन के हो क्रान्ति-पूत ?
तुम को खोकर जग खोयेगा
जनता का इक जागृत प्रहरी
तुम को खोकर यह दुनिया अब
सोयेगी निद्रा में गहरी
जब जग में इतना दावानल,
हा-हा का त्रास मचा भारी

ओ कविर्मनीषी ! तुम भी क्या
कुछ कर न सके प्रलयङ्कारी !
पर तेरे शब्द बीज बन कर
भावी में होंगे सफल खरे
तुम मरे नहीं, तुम शतशत विद्युत्–
कण बन कर जग उठे अरे !

१९४१ ]

# गीत

कितने 'बरस' गये
श्याम घन, कितने 'बरस' गये
पर ही के सुधि-घाव हरे-से,
···फिर भी नये-नये ।
सुधि को कहाँ अवधि की सीमा ?
यहाँ काल पर प्यार जीत—
पाता है निर्भय दुर्विनीत ।
प्यार चले निज डग भर धीमा
युग जाते द्रुत बीत बीत !
अनगिन काल-प्रहार हुए, हों
पर अविचल तुम एक प्रिये !
श्याम घन, कितने बरस गये

१९४०]

## पाया, खोया, पाया

पाया, खोया, पाया
तत्क्षण अन्तरतम में छाया।
बरसों से जो हार गया था शोध शोधकर
परिस्थिती भी कमर कसे थी जो विरोधपर
पाई वह युग-वांछित छाया
आज हर्ष से उन्मद मेरे प्राण हुए नृत्यातुर
पंखिल अरमां हुए कि सहसा झंकारित सातों सुर
विस्मय नहीं समाया
विस्मय था या जान न पाई वह था नित्यानन्द
छन्दमय हुआ हृदय, छा गया मन में मंद सुगंध
भूल गई सुधि माया
क्या अपना व पराया
तेरी पग - धुनि ने भरमाया
पाया, खोया, पाया

१६४० ]

## गीत

आँख से ओझल कहीं जाकर छिपे, मन से न जाओगे ?
राख में अंगार से अनबुझ कि जीवन से न आओगे ?
हँसी से मित्रता करके,
हमें यों टालना चाहा,
मदिरता आँख में भरके,
अधर-रस ढालना चाहा,
वजा जो तूर्य तुम रण में गये, प्रण से न जाओगे ?
समाये प्राण में इस क्षण सकल, कण से न जाओगे ।
यही थी चाह तो आते,
न तुम इस राह, ओ नेही !
मुझे यों पास ना लाते,
बने हो आज संदेही ?
कहा अज्ञातवासी ने यही—वन से न जाओगे
रहो तुम भी कहीं, सुधि के निबन्धन से न जाओगे !
बीन से क्या रूठ कर,
छिप सका है सुर कहीं ?
प्रेम से क्या टूट कर,
छिप सका है उर कहीं ?
वे जुड़े हैं दो हृदय विद्युत् तथा घन-से, न जाओगे
आँख से ओझल कहीं जाकर छिपे, मन से न जाओगे !

१६४० ]

# वीर-बहूटी

हरी हरी मखमल पर मूँगे की माणिक की दो बूँदें
धीमे - धीमे रेंग रही, छू दो तो अपनी गति मूँदें
धरती पर शाद्वल लहराये, नभ में सतरंगा छाया
किसी सुहागिन का यह कुंकुम बिखरा,सिमटा,मनभाया
या अंगारक उतरा नीचे देख हरा जग का वैभव
या जब मेघमतंगज जूझे, गिरे स्वेदकण युद्धोद्भव।
जगने छिपा-छिपाकर रखने लाख किया था योग-जतन
पर गिर पड़े फटी गुदड़ी से ये अमोल से लाल-रतन।
नहीं-नहीं, जाती थी कोई किरातिनी इस पथ से पार
तब उतारकर, नहीं, छिन्नकर फेंका निज प्रवालका हार
चलते-चलते पद्मरागमणि, ये कोमल स्फुलिंग के बाल
अधरोंसे मरकत-सी मृदुता, व्रीडासे लेकर रँग लाल
चली जा रही मायाविनि पावस-मोहिनि की उर-रेखा
सृष्टि - विरहिणी - वक्ष देश पर रक्तचंदनांकित लेखा।
किसी मनस्वी चित्रकार ने श्रावण-रंग लिखे मीठे
तूली से जल-रंग जहाँ कर झाड़ा, बिछे लाल छींटे
पावस में पश्चिम, दिनान्त के समय, लालिमामय दूरी,
वहीं जम गयी आकर कण बन संध्या-शोभा सिन्दूरी।
मेरे मन की सूझ, लाल पत्थर की लघु पुत्तलिकायें
कभी न कुम्हलें ऐसी सदा - संचलित पाटल - कलिकायें
किसी अजाने मांत्रिकने ये गोल गोल शोणित के चिह्न
चार दिशामें टांक दिये हैं, इनमें सुन्दरता अक्लिन्न

अरुण-दिशा में नई लालिमा मधु-सकाल बन मणि फूटी,
तभी शुक्र की आभा लिये अनूठी, पृथ्वी पर टूटी।
गुंजों से ले लाल रंग, तुमने अधरों से छवि लूटी।
वन के पावस हौंस फुलझड़ी, बीरबहूटी बन छूटी।

१६४१ ]

## बदली

वर्षा। विरहिन का आँचर चिर-गीला-गीला।
आसमान बादल के दल से काला-नीला।
मन में मेघमलार मचे हैं। 'वीणा भी ला!'
स्मृति आई। जब नायक ने कर जूड़ा ढीला;
क्या-क्या किया न मसला था यह अंचल पीला।
आज वही आँचर आँखों से। विधि की लीला!

१६४१ ]

# कस्मै देवाय ?

हम उनके गायेंगे गाने !
जिनका जीवन किन्हीं कारणों–
से है आज हुआ बे-माने !
जो निज अधिकारों से वंचित
जो हैं शोषित, लुंठित, मुंचित,
जिनकी जीवन गलियाँ हैं,
अवरुद्ध, घुटी औ' कुंचित
जिनकी नन्हीं आशाओं के
बिरवे हैं श्रम-सिंचित
वे जो दया-पात्र माने जाते,
उसमें ही रस लेते अनजाने
हम उनके गायेंगे गाने···
मल्लाह, उड़ाके, पैदल,
जो जाते हैं दलके दल,
लेकर जनता की आकांक्षा का संबल
जो निर्बल हैं रे निर्बल,
जो नहीं जानते अपना संचित
छिपा हुआ दारुण बल
मस्त भाल से, त्रस्त चाल से,
जाते हैं जो अरि को लात लगाने
हम उन के गायेंगे गाने ।

जो बड़े-बड़े शहरों में,
गन्दी लम्बी गटरों में,
फुटपाथों पर सोये हैं,
जो खोये-खोये-से हैं
श्रमसत्ता के जिस दल ने
रणवर्षा में बोये हैं—
नवबीज; चुनौती दें जो
कह कर—हट जा पथ से ओ,
धनसत्ता के दीवाने !
हम उनके गायेंगे गाने···

१९४१ ]

## गुल्मुहर

चिलचिलाता ज्येष्ठ का यह द्विप्रहर,
खिलखिलाता श्रेष्ठपर्णी गुल्मुहर !
केशरी, रतनार, गहरा देख चीनांशुक,
हरसिँगारों के अलक्तांकित चरण,
ये जसौंदी और दाड़िम, चंचु - पिक,
लाज से मानो हुए सिंदुर - वरण
पढ़ रहा हूँ लाल-परचम की विजय ;
गढ़ रहा हूँ मृत्तिका से रक्तमय—
कल्पना का प्राणमय यह मूर्ति पट :
लोचनों में कोटिशः हो इक सरूर,
सोचने में एक ही निश्चय, ग़रूर !
वेश केशरिया, जवानी, स्फूर्तिप्रद,
देश में हो एक ही बलि की लहर
खिलखिलाता ज्यों शहरका गुल्मुहर !

१६४२ ]

## संग्रामातुर

'''संग्रामातुर
  वर्षा का उर
ठहर ठहर कर
घहर घहर कर
प्रवाह भयकर
    मटमैला बह
झरता अंबर
    कहता अहरह

  बादल - दल - बल
        टकरा जलधर !
        मन के भीतर
        होती हलचल :
        इसका क्या हल ?
        बहु कोलाहल, अगजग, में अः !

१९४३ ]

## भूख और दीवाली

···भूखों की कैसी दीवाली ?
खेत में निरन्न,
दुर्भिक्षावसन्न,
खड़ा अप्रसन्न,
सृजक - कृषक, जिसका है,
थाल आज खाली !
मिलों में अश्रांत,
पिस रहे अशांत,
मनुज - यंत्र - भ्रांत,
सृजक-श्रमिक, हक़ जिनके—
सिर्फ है हम्माली !
उनको तम - तोम,
कृष्ण-क्षितिज व्योम;
प्रज्ज्वलित 'रोम'—
कलाकार नीरो
क्यों छेड़ते भुपाली ?
···भूखों की कैसी दीवाली ?

## मध्यवर्ग का ऐसा ही मन

मध्यवर्ग का ऐसा ही मन
उन्मन उन्मन, तपनभरा, फिर भी सुन लेता है खन-खन
इसके मन में गहरी घुमड़न
उमड़ न पाये ऐसी विषमय कई घुटे-से मनोभाव हैं।
पूरी हुई न ऐसी कई उमंगें अनगिन
पूर न पाये, बहते और बे-दवा ऐसे कई घाव हैं।
इनके मन में सदी-सदी के
बोदेपन के, बदी और नेकी के निश्चित रूढ़ नियम हैं
बद्धमूल, धुँधले, अनदीखे
हैं संस्कार और विश्वास, सोचते हैं बस हम ही हम हैं।
इन के मन में अजब कुहासा
सब कुछ जिस में मिश्रित-मीलित, स्पष्ट नहीं कोई भी मारग,
जग में इनका नहीं भरोसा
जिधर चल दिये सभी लोग, ये भी चलते उस दिशि में डगमग।

१९४३ ]

# कल और आज

—देश ये हुआ मसान।
देश में अकाल पड़ा।
देख रहा खड़ा-खड़ा व्याकुल किसान :
कब आसमान में खिंचती
इन्द्र की कमान,
और विद्युल्लता नचती है ?
घिर आयी मेघमाल, जो सवेग—
चली गयी छाँह रेख मात्र डाल !
बीज पड़े खेतों में
किन्तु कहाँ वृष्टि ?
दृष्टि पथ में है सूना-सा
सूखा-सा कोरा-सा आकाश-बिस्तार···
जीवन के बिना भला होगी कब, कैसी सृष्टि ?
जीवन के बिना सभी निस्सार !
—देश में बना विधान।
झगड़ा देश में हुआ
देख रहा खड़ा-खड़ा श्रमजीवी औ' किसान :
कब होगी सुविधा ?
कि बच्चों को शिक्षा जो माँग रहे भिक्षा,
दवा-दारू का प्रबन्ध,
गाँव-गाँव से मिटेगी कब महँगी की दुविधा !
देखना है, नया राज

जिस में किसान उठा पाये निज आवाज;
किन्तु अभी आशाएँ यह सब 'युटोपिया' हैं
जन-जन को पर्याप्त
अन्न, वस्त्र, घर, काज,
जब तक नहीं मिलता है
तब तक यह सब विधान,
निरी शालि···कहाँ धान ?

१६४४ ]

## गीत

कैसी अविरल पावस-धारा में कातरता है, इस बेरा ।
प्राणों में चाहों का डेरा !
कितना टेरा—

किन्तु सदा की सुनी-अनसुनी तुमने निर्मम,
हाँ, निर्मम फिर भी जो मेरा !
अनमन मन इस अविश्वास पर ही विश्वास जहाँ है करता
तरु पर तृण पर अंबरवासी का उल्लास समान बिखरता
मेरा हिया यहाँ मुझ से ही नहीं सँभलता
आज थक गया पान्थ अकेला चलता-चलता
हो आया अन्धेरा—!

आज अचानक दिल में जागी कैसी संघर्षातुरता है
अँधियारा पलकों पर छाया, तन-मन दिशाहीन तिरता है
जैसे अनाद्यंत सरिता है ।
ऐसा खुद ने खुद को घेरा—

इतनी गति-अतिरेक हुआ, मति भूल गई निज अस्थिरता रे,
कैसी अविरल पावस-धारा में आतुरता रे !

१६४४ ]

## गांधी और रवीन्द्रनाथ

एक भगीरथ के प्रयत्न का फल : सुरसरिता, जीवन-संचय,
और दूसरा तपःपूत अतिवृद्ध धीर-गंभीर हिमालय।
दोनों भारत की प्राचीन संपदा के संवाहक, रक्षक।
भारत-माँ के लाल लाड़ले। पश्चिम की रण-भू के प्रेक्षक—
तटस्थ। हिंसा-समाघात के प्रखर विरोधी। संस्कृति-पूजा
दोनों को प्रिय। एक मेघ-विस्तार और पावस है दूजा।
हिमगिरि की उन्नत गरिमा के प्रहरी, मौन-मुखरता-प्रेमी
द्रष्टा, साधक, शोधक, प्रयोगवेत्ता और प्रखरता-नेमी।

एक सत्य को खोज रहा है, अशिव-भस्म तन रमा, शिवम् में ;
और दूसरा सत्यम् और सुन्दरम् एक मानता हम में।
एक मानता गीता में भी अनासक्ति का मन्त्र असंशय,
रवीन्द्र कहते—'वैराग्य-साधने मुक्ति से आमार नय।'
एक कृषक-नेता, मिट्टी में बोता जो सहकार-बीज है,
और दूसरी ओर भक्ति है, 'बांग्लार माटी'—यही चीज़ है।

दोनों श्री-सम्पन्न कुलों में जन्मे, किन्तु त्याग के धर्मी
दोनों आस्तिक, दोनों श्रद्धा के विश्वासी, दोनों मर्मी।
दोनों का विश्वास, यंत्र-विज्ञान खा गया हस्त-शिल्प को,
दोनों ने साहित्य सँवारा छाप अमिट दी काव्य-गल्प को।
एक राजनैतिक हो रखता नैतिकता की धुरा सुरक्षित,

वह न कभी था राजनीति का पूर्ण अपेक्षित या कि उपेक्षित।
गांधी, ठाकुर, आज चाहती है तुमसे पथ-दर्शन जनता
तुममें ही पूरब के दर्शन पुराचीन का नया सृजन था,
ऐसा दर्शन जो कि विश्व के भावी मानस पर हो हावी,
यदि न हुआ यह प्रबल-बनेगा अंध मयासुर जड़ मायावी'।
यही महाभारत है जिसमें मोहन तुम गीता ले आते
यही अनलहक़ है जिसकी ओ सूफ़ी,तुम रुबाइयाँ गाते ।
दोनों का जो नामहीन औ' अरूप आत्मा का है बाना,
उसकी भारतीयता पूरी है अक्षुण्ण, अनाहत-प्राणा ।

१९४४ ]

## दो पद्य

बादलों की भीड़,
सिहरते हैं नीड़,
भींगते हैं चीड़ ।

है हवा भी ढीठ
ठोंक गिरि की पीठ,
हँस रही जी खोल,
ताल उट्ठे डोल,
यह घड़ी अनमोल !

धरती में है ऊमस
आसमान में है रस
अधबिच में मनु बेबस
नीचे राह देखते बीज, प्रकृति-हृदय भी उठा पसीज ।
जब अग-जग उठता है भींज, कैसी खीझ ?
मानव क्यों अतृप्त, गलीज़ ?

१९४४ ]

# नयी हवा

आज हवा में कुछ बाग़ीपन, कुछ कुछ और नया ही रंग
भूलो जीर्ण पुरातन सब कुछ, अब नवीन का कर लो संग
अब बैराग नया ही होगा, नयी फकीरी, अभिनव जोग
और जंग - खाई-सी सड़ियल रूढ़ शृङ्खला होगी भंग

आज प्रेम की भी तो होगी, नये सिरे - से सखि, व्याख्या
और सख्य का भी तो होगा, नया अर्थ, ओ निर्वाक्या !
आकांक्षाएँ अब तक जो थीं, कुचली, सिमटी, भीत, दमित,
स्वस्थ पूर्ति चाहेंगी, इसमें पाप, अनीति, छलावा क्या ?

१६४४ ]

## आश्वासन

युद्ध और अवरुद्ध परिस्थितियों से, सब से
हम निर्भय हों, जग निर्भय हो
पुराचीन बंधन - क्रम का, निज अक्षमता का
नवअक्षय-चेतनाघात से क्षय हो।
'क्या होना चाहिए और क्या नहीं ?' प्रश्न-तंद्रा यह—
टूटे और जागरण के सँग 'है' की जय हो !
हम भ्रम से उबरें, इस ही क्षण निज मर्यादाएँ पहिचानें,
सच्ची समता के सिद्धयर्थ समर हो !
हम श्रम से ऊबें न धर्म की निष्क्रियता को जानें,
हम हों स्वतःप्रभु, न पामर हों,
युद्ध और अवरुद्ध परिस्थितियों से, सब से
हम निर्भय हों और निडर हों !
अणुबम का आतंक जगत् में फैलानेवाले दनुजों से
हम निर्भय हों शंका-पोषित सब 'अनु'जों से

१६४५ ]

## लावनी

आँखों में आँजा था काजल
वह काजल नहीं
हृदय जल - जल जो उठा अँवा
वह हुआ धुँआ !

गोरे हाथों पर तुलसी का वह गुँदना क्या ?
मुसकाते लाज भरे पलकों का मुँदना क्या ?
विधना ! मनसे छवि बँधना क्या ?
कुसुमों के तरकस सधना क्या ?

हाथों में राँची थी मेंह्दी
वह मेंह्दी नहीं,
हृदय पिस पिस बन गया हिना !
ज्यों चोंच-सुआ !

नयनों में जो आँजा काजल
कर दिया सियाही को उज्जल
प्यासे को लगता जल ही जल :
रेती का हर कण-कण मृगजल !

पैरों में आँका लाल बरन
वह नहीं महावर, बरन
हृदय का रक्त बना
था घना वहाँ !

१६४६ ]

## झंझा और वृक्ष

हम हैं युवक, नये अरुणोदय के संकेत प्रसन्न प्रतीक
सीखे नहीं कभी चलना होता है क्या रे लीक-लीक !
मानी सीख न कभी पुरानी, माँगीं नहीं कभी भी भीख
हम निर्भीक चले निज पथपर, अनथक, अविरत, ठीक-ठीक।
हम अरुण रक्त के तरुण, विचारों के हैं हम घूर्णित झंझा
यम को दिये चुनौती, लड़ा रहे सब नियमों से पंजा !

हम धरती के पुत्र, कृषक हम युग-युग के शापित होरी
टोड़ी बच्चों को हम खूब समझते हैं, हम हैं बार्डोली !
हमने अपना खून सींचकर जग की क्षुधा मिटाई
हम चट्टान न शत्-शत् अन्यायों से गयी हटाई !
हम भी हैं 'नवान्न' के रक्षक, हम किसान, हम झंझा,
घिरी नहीं हैं अभी हमारे मन पर शोषण संझा !

हम जो सदियों से कहलाये गये मजूरे या कमकर
हम वे जिनकी मेहनत पर पलते ये संस्कृति के संकर !
हम यन्त्रों के राक्षस की वेदी पर चढ़ा पसीना जो
सदा बनाते हैं लुभावना सुविधामय यह जीना जो !
हम हैं अन्तर्राष्ट्र - संगठित, है मजबूत शिकंजा,
हम मज़दूर नहीं मामूली, हम हैं उठती झंझा !

हम अछूत जो सहस्राब्द का पदमर्दन चुप सहकर
मन में घुट कर रही वेदना कभी न दृग् से बहकर—

निकली अश्रुमयी चिनगारी, वरना जगती दहकर
शबरी, व्याध, यवन, रैदासा बनते सभी उमहकर,
हमें न समझो शूद्र, हमारी माताएँ थीं क्या बंझा ?
हम हरिजन, हम दलित, उच्च वर्गों के अन्तक झंझा !

राष्ट्र वृक्ष - सा जिसकी नाना शाखाएँ अवदात
सरहद, सिन्ध, अवध, कर्नाटक, वंग, आन्ध्र, गुजरात,
काश्मीर, पंजाब, दु - आबा, राजस्थान, बिहार,
महाराष्ट्र, आसाम, कटक, मालवा, काठियावाड़,
अब शाखाएँ बढ़ती हैं, निज-निज दिशि में सब ओर
तब तरु की अखंड जड़ में क्या मचती ईर्ष्या घोर ?

राष्ट्र वृक्ष - सा जिसने देखे नाना बारह मासा
मौसम की बदली - सी रंगत, प्रकृति रूप नया - सा ?
इसने देखी आर्य चढ़ाई, बौद्धों का यश विस्तृत
इसने देखी हूण शकों की, पठान - मुगलों की गत,
सिक्ख, मराठों, रजपूतों की आन - बान भी देखी
देख रही है : नये परिन्दों की पश्चिम की शेखी !

राष्ट्र वृक्ष - सा जिस पर बसते नाना स्वर के पाखी
यहाँ न कोई नियम कि सबका एक रंग या मत हो !
यहाँ कई रहते हैं बना गिरोह, कई एकाकी
कई बिचारे जाल में फँसे, निरे स्वार्थ में रत हो !
झांझा से यह राष्ट्र जड़ों से हिल उठता है सहसा,
सूखे पत्ते झर जाते हैं, पद-रज चढ़ती शिरसा

१९४६ ]

## धान और विधान

आदमी के हैं बनाये ये नियम कानून
स्वार्थ है इनमें छिपा है वर्ग का सुख-मूल।
सैकड़ों का जब कि मिलता है पसीना-खून
सुघर सामाजिक व्यवस्था-रूप खिलते फूल !

आदमी के हैं बनाये धर्म, नय, आचार,
छूट है इनमें महाजन, धनिक, शासक को ;
नीति की जकड़न ग़रीबों को, वही लाचार !
ढोंग प्रभु का रच रियायत है उपासक को !

आदमी के हैं बनाये राजतन्त्र, विधान;
यदि न जन-जन का हुआ हित, मुक्ति का क्या अर्थ ?
यज्ञ जिस पर्जन्य के हित; जो उगाये धान;
वह स्वयम् यदि अन्न स्वाहा कर चले तो व्यर्थ !

'धान हमको-चाहिए !' यह है क्षुधित की माँग।
देख लेंगे बाद में वैधानिकों के स्वांग !

१९४७ ]

## मनु का वंशज

बीसवीं सदी के मानव से मनु ने पूछा पहिला सवाल :
'मेरी दुनियाँ का बोलो तो, भाई, कैसा है हाल-चाल ?
क्या उसी तरह बन में सुख से रहते हैं तन पर ओढ़ छाल
गह्वरवासी, फल खा, जल पी ?' कुछ उदासीन कुछ त्रस्त भाल—
होकर बोला आधुनिक : 'नहीं जानते आप शैतान व्याल,
उसने आदम औ' ईव बीच पार्थक्य किया निर्मित कराल,
उसने खेती के बदले में यंत्रों का ऐसा आल—जाल—
फैलाया जिसमें बन बैठा पूँजीपति ही सब कुछ सँभाल।'
मनु चिंतित होकर फिर बोला—'मेरे बच्चों की यह मजाल ?
प्रार्थना नहीं करते होंगे प्रभु की, इससे है कुपित काल।'
आधुनिक बिचारा फिर बोला—'वह पूँजीपति ऐसा विशाल
उसके आगे मनु जी, न तुम्हारे प्रभु की, गलती जरा दाल।'
'अच्छा !' मनु ने साश्चर्य, कहा—'सोना तो तुम लेते निकाल ?'
'उंहूँ,'—बोला नर, 'श्रम मेरा, उनका सोना उनकी कुदाल।'
'तो हुए मौन क्या गणराज्यों के अधिपति सब सत्रप महान्'
मनु ने फिर से पूछा 'जग से क्या ? हुआ लुप्त सब न्यायदान।'
आधुनिक ज़रा हिचकाया, फिर बोला 'ना, वे सब हैं निदान;
किन्तु है निरंकुश सत्ता का उन्माद, मत्त सब स्वार्थ—प्राण,
मच रहा जगत् में वर्गों में, जन-जन में, गहरा घमासान
नीति औ' धर्म की क्या पूँछो मानवता के मिट गये मान।'
मनु चिंतातुर होकर बोले 'यह तो अनर्थ ! विज्ञान - भान
कुछ ला न सका क्या मानव में बोधोदय या औदार्य ध्यान ?'

आधुनिक मनुज बोला—'मनुजी, अणुबम के जो नव-नव विधान
उनकी इच्छा तो हरी-भरी धरती को कर दें श्मशान !'
मनु बैठ गये, सोचने लगे, विज्ञान-धर्म दोनों समान—
निर्बल मानव के रोगों का वे कुछ न कर सकेंगे निदान ?
तब मनु ने अपने पड़पोते से कहा—'पढ़ रहे क्या प्रमाण ?'
बोला मानव—'ताता-बिर्ला-योजना' और 'कूपलैन्ड प्लान' !

१६४६]

## मेहेर लिख्ट ! मेहेर लिख्ट !!†

नया प्रकाश चाहिए, नया प्रकाश चाहिए
पुकारती दिशा - दिशा
मिटे तृषा मिटे निशा
बहुत हुआ उदासपन, हमें सुहास चाहिए
अतीत का सुवर्ण स्वर
सजीव और लाभकर,
वही रखें, न रूढि के निरर्थ दास चाहिए
सहानुभूति - वारि से
सिंचे हुये सु-मन हँसे
हमें निरभ्र और नील मुक्त श्वास चाहिए
नया प्रभात है, कि द्विज
अनंत नभ तुझे सहज,
गिरा, विचार, तर्क पर हमें न पाश चाहिए
विनाश की मृषा हटे नया विकास चाहिए

१६४८]

† गोयटे के अन्तिम जर्मन शब्द : अधिक प्रकाश ! अधिक प्रकाश !!

# मुक्ति दिवस

[आल्हा]

युग-युग से शोषित जनता जो इस दिन की रही प्रतीक्षा में,
दी कितने शहीद लालों ने बलि की अग्नि - परीक्षाएँ,
मुक्ति मिली जब-जब, मुट्ठी भर लोगों को वरदान मिला,
शेष बचे लाखों लोगों को पुनः बुभुक्षित प्राण मिला।
ऐसे ही इतिहास बना चढ़ संघर्षों की नव सीढ़ी,
मिट जायेगी वही विषमता मिटा न पायी यह-पीढ़ी?
कौन यहाँ पर स्पृश्य और अस्पृश्य कौन है अधिकारी?
युग-युग से नर का एकाधिपत्य यह भोग रही नारी,
नये विधान बने, घिस-घुस कर जब कि पुराने ये सिक्के,
अपना वज़न मूल्य खो कर के दर-दर खाते हैं धक्के!
नव-विधान ने पुनः साफ कर लिखी नयी लिपि नव-पाटी,
और कई वर्षों से वह भी रूढ़ि बन गई परिपाटी,
जागी पुनः घोर जन-जन में उसके प्रति अतुष्टि-चिन्ता,
था संस्कार प्रबल यद्यपि वह अपने अन्तिम पल गिनता।
मानव ने मानव को अपने फौलादी दृढ़ पंजों में,
चाहा बाँध रखूँ नियमों के व्यापक विषम शिकंजों में
मगर वहीं मानव ने सारा जाल कपोतों के गण-सा,
उड़ा लिया, फिर मुक्त गगन में विचरी मुक्त-बन्ध मनसा।
वीत - छन्द कब हुई, घिरी आत्मा में लालस इच्छाएँ
पुनः जम गये पक्षपात के पक्ष - भेद दायें-बायें,
जीवन और मरण के पलड़ों पर बटखरे नये बदले
पुनः बहे नव-स्रोत, नये नद बँधे हुए जल से गँदले।

अग्नि - आप - अनिलाम्बर - धरती रूप नये धर कर सुन्दर
करती रही तमाशा - सा जो उद्वेलन मानव में भर,
पूँजी के डमरू बजने पर बनी धारणाएँ वन्दर,
आज हो गया अच्छे और बुरे का यों भीषण संकर,
कहते हैं वैज्ञानिक अणु का स्फोटन कर कर विध्वंसन,
जितने थे उदात्त स्वर्गोपम ध्येय उन्हीं का कर भंजन,
आज मनुज बन गया अहेरी, मनुज शरासन औ' सायक,
मनुज बना है लक्ष्य, मनुज ही दास, मनुज ही अधिनायक,
मुक्ति तभी जब हो विचार भी मुक्त, मुक्ति हो वाणी की,
मुक्ति दिवस हम तभी मनायें मिले मुक्ति हर प्राणी की।

१५ अगस्त १९४७]

## 'निराला' की स्वर्ण-जयन्ती पर

रूढ़ वृत्त की बद्ध रीति से मुक्त किया हिन्दी कविता को,
नये कण्ठ से नई 'गीतिका' का गलहर पिन्हाया;
कुछ दुरूह थे सूत्र और थी वन्य हार की सुम-काया,
बोल उठे कुछ अरसिक, इस को काव्य-क्षेत्र से हाँको!
किन्तु विरोध सहा, जितना ही पिसे, हिना रँग लाई,
उस कविता ने, 'वरदा वीणावादिनि' ने 'मतवाला'
ऐसा तुम्हें किया, तुम भूले सब, जग निन्दा को टाला,
वह एकान्त वर्णकांतार कि जिसमें सुर-धुनि छाई!
छले गये तुम भले, कहा 'जो-जो आये थे चले गये',
लेखक शोषित प्रकाशकों की चिकनी-चुपड़ी बातों से,
अक्षर के काले बजारवालों से, उन आघातों से,
आलोचक-पुंगव के डंडे से जितने ही दले गये—
बाँट चले निज मधुर वेदना-अनुभव तुम दोनों हाथों;
इसीलिए यह नाम 'निराला' अजब अर्थमय है, हाँ, तो···

१६४७]

# विजया-दशमी १६४८

[ दो सानेट ]

यह विजया-दशमी आई है नव हर्ष लिये जनता के हित,
अब मुक्त हुए वे ग्राम-नगर जो रज़ाकार जन से पीड़ित।
यह विजय हुई है किस कारण ? सेनाओं से, सरदारों से,
ना ? विजय हुई है पीडित की संघर्षमयी चीत्कारों से।
राजेन्द्र, सिंह, चौधरी या कि मुंशी, पटेल सब हैं निमित्त
हैदराबाद की जनता का अविरत, अकंप जो एक चित्त !
जो शत-शत झोपड़ियाँ जल कर उनसे उट्ठी कातर कराह
जो लाखों माओं—विधवाओं के रुद्ध—कंठ से कढी आह
जो कोटि-कोटि आतंकित थे, जो कुछ अशस्त्र का बहा रक्त
वह आज विजय का तिलक बना, यों पलट गया है आज वक्त !
अब तक इतिहास पढाता है काँपे अन्यायी कई तख़्त
कासिम-लायक कौन से खेत की मूली जब मिट गये सख़्त—
नीरो, सीज़र, चेंगिज़, नादिर, रावण, हिटलर, बिस्मार्क, ज़ार
जनता की चट्टानी ताक़त के आगे टिकता कौन ज्वार ?

२

यह विजय निज़ामी जनता की, यह विजय फौज़ की नहीं सिर्फ़
यह विजय सैकड़ों महिनों की, है एक रोज की नहीं सिर्फ़ !
यह विजय बिंदु की, रियासती कांग्रेस तीर्थ को पाने की
जालना और नलगोंडा की, यह विजय कि तैलंगाने की।
यह समझो मत कि हिन्दुओं की है विजय मुसलमानों पर ही
यह विजय लोकशाही की है मज़हबी अन्ध दीवानों पर

इस विजय सूत्र से उधर वहाँ कश्मीर बँधा, मज़बूत हुआ
यह विजय देश में नव-चिंता, नव-भारत का नव-दूत हुआ
है अब की नव-दुर्गा आई संदेश नया लेकर घर-घर
हो चुका बहुत धर्मान्धों का आपसी युद्ध, बर्बर संगर
इस धर्मान्धों ने गाँधी को मारा, गृह-युद्ध बढ़ाया था
जो क्षुद्रों ने उत्पात मचाया और गज़ब यह ढाया था !
पर आज करें हम प्रण—काली माँ ! दो हमको बल औ' धीरज
मुझको प्यारा है एक धर्म—भारत-माँ की धरती का रज।

१९४८]

## मालव-सरिताओं से—

शिप्रा, चंबल, कालीसिन्ध···उतरो नीचे, छोड़ो विन्ध्य !
झर-झर झरती सरिताधार,
तोड़ फोड़ चट्टान, कगार
अष्टदिशा में जल विस्तार,
बहता मानो आत्मानन्द शिला-बन्ध तजकर स्वच्छन्द !
कालिदास के वंशज, गा
सोती मालव-भूमि, जगा !
उस किसान को समझ सगा
जिसकी किस्मत अब भी मन्द, उससे कर घनिष्ठ सम्बन्ध
कवि, सपनों के मीठे जाल—
बुनने में मत लगो अ-काल।
नभ में छाई घटा कराल।
वह सौंदर्य अतन्द्र अनिन्द्य—सब में फैले, छोड़ो विन्ध्य—
शिप्रा, चंबल, कालीसिंध···जैसे वेगवान हों छंद !

१६४८]

# दीवाली १९४८

दीप-पर्व है परन्तु विश्व-दीप बुझ गया,

देश के यही था भाग्य में कि यह घनी अमा,
हम मनाएँ खो के अपना आज वह महात्मा,
जो कि यों युगों तलक हमें प्रकाश दान दे—
बस सिखा गया हमें दया महानता, क्षमा

यह विजय मना, परन्तु राम का अनुज गया,

वस्त्र देश में नहीं गरीब को न अन्न है,
क्या जलायँ दीप-पंक्ति सृष्टि अप्रसन्न है ?
व्योम में टँगा सुसौम्य उच्च नभोदीप, पर
टूटता नखत, बढ़ा कि अन्धकार सन्न है !

दीप लग रहे विवर्ण, रवि प्रसन्न ऋजु गया,

शारदी निशा अभी अभी मनी न थी कि हा !
आ गयी वही अमा तमिस्र–मयि भयावहा,
पा गये स्वतन्त्रता व राष्ट्र का पिता गया,
चूक कौन सी-हुई ? कि शूल यह समा रहा—

है प्रकाशमय डगर, मगर हृदय तो मुँद गया !
दीप-पर्व है परन्तु विश्व-दीप बुझ गया !!

## कारवां...

रुका नहीं कभी समय का चिर-नवीन कारवाँ
बड़े - बड़े मनीषियों के हौसले भले रुके।
मनुष्य के कठोर पर सदय हृदय का कारवाँ,
बड़े-बड़े अनेक घोर संकटों में कब रुके ?
यहाँ कई सफेदपोश घाघ, चोर चल रहे,
वहीं कई गरीब संत साधु - मन सिसक रहे,
धरम-करम के बेशरम अनेक शोर चल रहे
कई महान् बुद्धिमान् युद्ध में ठिठक रहे।
परन्तु मानवी विकास जो विरोध से बँधा,
नहीं रुका नहीं रुका ! निरंतरोर्ध्व जा रहा,
यहाँ कभी कदम मुड़ा नहीं बढ़ा हुआ सदा
नित नवीन रागिनी मनुष्य - वाद्य गा रहा।
रुके महंत, भूप, वीर, पर न जन-हृदय रुका,
रुका नहीं कभी समय का नित्य-सत्य कारवाँ।

१६४८]

## वंगोपसागर

[ पुरीके समुद्र तट पर ]

पूर्वी समुद्र, हहराता हुआ,
सिर धुनता, रोता, लहराता हुआ,
अपनी ही वासना से पराजित, प्रताड़िता सा,
पश्चात्ताप-दग्ध-उर,
हार नहीं स्वीकार करता, घहराता हुआ।
पूर्वी समुद्र हहराता हुआ।
उत्कल के उत्संग पर किशोर,
अंग-अंग झकझोर
डाले हैं बयार ने,
रहस्य भरे प्यार ने।
मचाता रोर
केका-रव भोर
एक बहुत बड़ा भूरा मोर !
अविश्राम,
उद्दाम,
आठों याम, शून्य-काम।
कोटि भंगिमाओं में,
तुंग गिरि-शृंगप्राय,
नील, श्वेत, काषाय,
बहुरंगी,
नृत्यातुर,
नंगी तरंगों का नृत्य रुद्र।

क्रन्दन से आक्रान्त यह समुद्र !
—कहता है,
'मुं उत्कलर प्रदेशर निवासी',
जगन्नाथ, भुवनेश्वर, कोणार्क,
मूर्तियों के शिखरों के, चक्रों के,
शैव, बौद्ध, तांत्रिकों के
भागवत, वैष्णवों के
देश-पद-पखारती-सी
आरती उतारती-सी, फेन-दीप लक्ष-शिखा,
यह तरंग-दासी
प्राचीन उड्र औ' कलिंग-संग रहा मैं,
मध्ययुग सामन्ती देखे रंग,
सुने भक्त कवियों के,
सरलादास, भंज के कीर्तन अभंग,
और फिर भी मैं यों असंग,
अनाशक्त बहा मैं !
ऐसा हूँ मैं अतन्द्र!'

ऐसा पूर्वी समुद्र !
—रेती का मैला सा,
लाल गेरुआ फैला,
अंचल जो योजनान्त,
भरता है उसे कान्त
चंचल अंजलियों से
कोटि-शंख-सीपों से
पूर्वी सागर अशान्त ।
धीरा,
प्रतीक्षातुरा, सिकता का

चिर-दिन से कुचला हुआ,
फिर भी सदा मचला हुआ,
राका-रत, नरम, आर्द्र, मोह-श्रान्त,
वक्ष-प्रान्त,
शान्त, शान्त, एकान्त !
नारिकेल ताल औ' तमाल के किनारे पुंज
पत्तों-पत्तों पै लिखे—
दशम-स्कंध-भागवत ऐसे कुंज :
जहाँ आन आत्मा के पर्दे खुले,
विधृता के बँधे हुए जूड़े खुले,
गोपनीय गोपी-उर-लीला के सातों सुर
बजते हैं प्रेमातुर—
वंशी के एक साथ बजते हों सातों छिद्र,
ऐसा पूर्वी समुद्र !
—तट पर जो सिकता में धँसी हुई एक नाव,
कब से थी प्रतीक्षा में, मानो मूर्त हों अभाव,

सहसा जड़ लकड़ी में—
स्पन्दन-सा जागा, धीमे-धीमे,
वह भी उन लहरों की आँख मिचौनी में
अनायास, एक रात,
जैसे हुआ साथ,
कुहासे में किसी को टटोल रहे दोनों हाथ !
कसक उठा उस सूखे
माध्यम के अन्तर में
किस लगाव का दुराव
'नव कलेवर' का चाव
ढहते चले आदर्श

बीते हुए हर्ष और विमर्श के मनोहर क्षण
याद बन सिहर उठे उच्च-क्षुद्र
मानवती ऊर्वी का प्रियतम गर्वी समुद्र !
पूर्वापर तार-मन्द्र,
ऐसा पूर्वी समुद्र !

१९४८]

# दो सॉनेट

## पन्द्रह का पहाड़ा

'पन्द्रह रुपये माहवार पर देहाती टीचर हैं ?' 'जी, हाँ।'
लखमीचंदजी, आजे कांई सट्टे को फ़ीचर है ?' 'जी, हाँ।'
"हड़तालों से मेहतर ने भी तीस रुपैया पायी तनखा'
'कल की फिल्म बड़ी रद्दी थी, कृष्ण लग रहा था ज्यों जनखा'
'पैंतालीस हो गया है अब डाक - बाबुओं का भी वेतन'
'कवि राष्ट्रीय गा रहे अब भी हम अनिकेतन, हम अनिकेतन'
'वारपिंग. खातेवाले की पगार मय मँहगाई साठ'
'उसमें से आधा उड़ जाता जब कि 'बार' में बजते आठ...'
'जी हाँ, एम. एस्सी हूँ फर्स्ट क्लास पिचहत्तर स्टार्ट दिया है।'
'जी हाँ, अबकी सावित्री का मुन्नीजान ने पार्ट किया है !'
'हाँ, एजेन्सी है बीमे की पड़ जाते हैं अस्सी नब्बे'
'बड़े ठसाठस भरे हुए रहते हैं थर्ड क्लास के डिब्बे !'
यही बेतुकी बातें जहाँ सुनो मिल जायेंगी सुनने को !
यहाँ किसे फुरसत है सुसरी कला और संस्कृति गुनने को !

## लामज़हब

'हमको तो हिंदुत्व डूबता है इसकी भारी है चिंता,'
बोले पंडिज्जी सोहन हलुए का लेकर ज़रा ज़ायका।
'हाँ, इस्लाम अहम् खतरे में, इसी फ़िक्र में लमहें गिनता'
बोले शेख मिठाई खाकर घूँट निगलते हुए चाय का।
उधर पोप ने रोम रेडियो पर सन्देशा विश्वशान्ति का—

दिया, इधर शंकराचार्य ने कहा—काल यह धर्मक्रान्ति का।
घी के दीपक दिन में जलते हैं, उस ओर घोर धूपायन,
जब तक दान-दक्षिणा, और 'दशांश'प्राप्ति में है नियमितपन
तब तक वर्गभेद के पोषक, लेकर ईसा-कृष्ण-मुहम्मद,
खूब करेंगे अपनी आमद, ढाँक-ढाँक कर स्वार्थ-अहम्-मद!
धर्म बन गये रक्षक इन पापी काले बज़ारवालों के;
मन्दिर में जप-जाप-'अहिंसा,' शोषण में शर्माती जोंकें।
ऐसा यह मज़हब जो अन्दर से सड़-गल कर हुआ खोखला,
वह डूबा क्या, और बचा क्या? वह बेअसर, फ़रेब, दोगला···

१९४८]

## सूखे तरु शाख-शाख

सूखे तरु, शाख - शाख ··· निष्पर्ण
पाखी की बँधी आँख ··· वितृष्ण
फूटा एक कोंपल - सा,
वहाँ देख कोमल - सा,
अंजीरी, हरा - हरा ··· रक्तवर्ण
शिशिर को चुनौती भरा, ··· एक प्रश्न !

सूखी उन शाखों में ··· बना नीड़
भरता खग - पाखों में ··· नयी मीड़ ।
आँखों में क्षितिज-लक्ष्य, मन में कातर, अलक्ष्य,
अन्तर में भावों की ··· भरी भीड़
स्वर में अभावों की ··· मौन पीर

कोपल के बन पल्लव ··· बनें फूल
फूलों के फल नव - नव ··· स्वास्थ्य-मूल
वासंतिक जादू यह, शून्य में सुरभि-विभव
खींचा सुर - धनु अवाक् ··· आकर्ण

१९४९ ]

## संक्रमण

फटी, थेगरों की यह संस्कृति की जो गठरी,
अब न सुधरने की यह, बिगड़ चुकी बहुत, अरी !
फूट गई जुड़ न सकेगी मटकी, यह गगरी !
क्या दृगम्बुसिंचिता प्रेमबेल, वंचिता,
मुरझ यदि गई, पुनः पनप सकी ? हुई हरी ?
आँखों का नीरसार व्यर्थ वेदनाप्रसार
सूखी सरि-सिकता पर द्रवित झुकी, क्या बदरी ?
ये मुमूर्ष व्यक्ति, जाति, उनकी भी यही ख्याति,
गलितप्राण निर्वाणोन्मुख टिक सकी न मरी !
अस्थिशेष, शुष्कपत्र, खादप्राय, यत्र - तत्र···
तज यह तट जीर्ण लिये चलो सखी, नयी तरी,
यक्ष-पुरी को चलो न प्राणपिकी, स्वप्नपरी,
चलो जहाँ श्रम की अमराइयाँ पकी, गदरी
और जहाँ समता की दूब नरम हो बिखरी

१९४६ ]

## जानना और करना

जानता हूँ एक बात
यह जुन्हाई की रात
है जुदाई की रात
चाँद की बारात है तारों का जनाज़ा
याद की मलाई उभर रही तरोताज़ा
रेंक रहा वाजा—रे आ जा मोरे राजा !'
ज़िंदगी में मौत का
थोड़ों में बहुत का
आधा है साझा !
नयी नयी पौध का
होगा आत्म - घात
होगी तभी प्रात
जानता हूँ यही बात
जानता हूँ फिर भी मैं कहाँ मानता हूँ
अपनी व्यथा में हँसी - खुशी सानता हूँ
विचारों में द्रुत तेज़, गति-मन्दाक्रांता हूँ
डार - डार पात - पात
दो दो कटे हुए हाथ
चाँदनी का गौर गात
ऐ चकोर ! मार लात
जानता हूँ एक बात
रात नहीं रात सदा
बात नहीं बात !

१९५१ ]

## कहो प्रेम क्या है ?

( गुइरडो आरलेंडोके एक इटैलियन सॉनेटकी छाया )

"कहो प्रेम क्या है, कहाँ से चला ?
कहो पंथ उसके कहाँ हैं, अहा !
कि यादें, कि है स्वार्थ या है गिला ?
नयन संधि या है हृदय की स्पृहा ?
कहाँ से सुखोन्माद यह छा रहा ?
कहाँ से दुखों की जली हाहुताश ?
कहो, मित्र यह प्रेम क्या खा रहा ?
कहाँ, कब व किन पर करे प्रेम राज ?
कहो प्रेम क्या है ? उसे रूप है ?
अरे रूप सच्चा कि आभास है ?
कि है प्रेम जीवन कि है वह मरण ?"
तुम्हें यह कहावत न मालूम क्या ?
"बखूबी उसे जानता दास है,
गया जो कई बार मालिक के घर ।
कि है प्रेम स्वामी, व अनुचर सकल ।"

( एज़रा पाउण्डकी 'मेक इट निउ' पृ० ४०५ से )

१९५२ ]

## एक सानेट

जब गलत समझा मुझे दुनिया ने तब
तुमने ही मुझसे कहा था—'तुम सही!
'कौन समझेगा तुम्हें, (सब अन्ध हैं),
'राह दुनिया से अलग तुमने गही।'
आज कितने दिनों बाद मिलीं मुझे
कह चलो जो रह गई थी अनकही।
यह कि हम तुम ही नहीं वैसे रहे,
है वही धरती, हवा, छाया, जुही।
है ज़रा शिकवा मुझे इस बात का
हो रही थी बात वह आधी रही।
और उसने भेद ऐसा कर दिया
आसमाँ वैसा न-ही वैसी मही।
बह रही नदिया किनारे लाँघकर,
याद तेरी आज आँसू बन बही।

१६५३ ]

## अपनी माता की मृत्यु पर :

मातः ! एक कलख है मन में, अंत समय में देख न पाया
आत्मकीर के उड़ जाने पर बची शून्य पिंजर - सी काया।
और देख कर भी क्या करता ? सब विज्ञान जहाँ पर हारे,
उस देहली को पार कर गयी, ठिठके हैं हम 'मरण - दुआरे'।
जीवन में कितने दुख झेले, तुमने कैसा जनम बिताया !
नहीं एक सिसकी भी निकली, रस देकर विष को अपनाया।
आँसू पिये, हास ही केवल हमें दिया, तुम धन्य, विधात्री !
मेरे प्रबल, अदम्य, जुझारू प्राण - पिंड की तुम निर्मात्री !

कितने कष्ट सहे बचपन से, दैन्य, आप्तजन - विरह, कसाले,
पर कब इस जन को वह झुलसन लग पायी, ओ सुवर्ण-ज्वाले !
सभी पूत हो गया स्पर्श पा तेरा, कल्मष सभी जल गया,
मेधा का यह स्फीत-भाव औ' अहंकार सब तभी गल गया,
पंचतत्त्व का चोला बदला, पंचतत्त्व में पुनः मिल गया,
पर-अस्तित्व-भवन सूना-सा, यह व्यक्तित्त्व समूल हिल गया।
मुझे याद आते हैं वे दिन, जब तुमने की थी परिचर्या,
शैशव में, उस रुग्ण - दशा में तेरी वह चिंतातुर चर्या !

मैं जो कुछ हूँ, आज तुम्हारी ही आशीष, प्रसादी, मूर्ता,
गयीं आज तुम देख फुल्लपरिवार, कामना सब संपूर्ता।
किंतु हमारी ललक हठीली अब भी तुम्हें देखना चाहे,

नहीं लौट कर आने वाली, वे अजान, अँधियारी राहें···
मरण जिसे हम साधारण-जन कहते हैं, वह पुरस्सरण है।
क्षण-क्षण उसी ओर श्वासों के बढ़ते जाते चपल - चरण हैं।
फिर भी हम अस्तित्व-मात्र के निर्णय को तज,नियति-चलित-से
कठपुतली बन नाच रहे हैं, ज्यों निर्माल्य प्रवाह - पतित - से !

तुमने मुझे भक्ति सिखलायी संतों की, विठ्ठल - से प्रतिश्रुत,
मैंने कितने धर्मग्रंथ पढ़ तुम्हें सुनाये हरिलीलामृत !
जीवन-भर तुम रहीं निरक्षर, आज हुआ 'अक्षर' से परिचय,
ढाई अक्षर प्रेम जान कर, शूल तजे करतीं मधु - संचय।
मुझे याद है तीर्थस्थान की वे यात्राएँ मेरी माता :
काशी, ,चित्रकूट, पंढरपुर, अक्षयबट, मथुरा, मान्धाता !
और अपापा नगरी में उस महाकाल की भैरव - अर्चा,
जिस 'शिव' ने चिन्मय हो कर,चिर-चित ।भस्म ले निज तन चर्चा !

अम्ब ! आज वे सभी कथाएँ मात्र तुम्हारी - मेरी हो कर,
तिलांजली में अश्रु भिगो कर, जाती हैं प्रस्तर - पथ धो कर !
कौषीतक्युपनिषद् गा रहे वागादिक का संप्रदान यह,
जो कुछ तुम कर्तव्य कह गयीं, वही करूँगा मैं महान् अह !
"यदि उ वै प्रेयात् यत् एव एनं समापयति—
तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति"।

युग - युग से वैरागीपन का सीखे हम बेगाना गाना,
"ज्यों बिम्बहिं प्रतिबिम्ब समाना, उदक - कुम्भ बिगराना !"
पर रह जाती है कबीर की साखी, सब दर्शन की कीलें—
तेरी स्मृति से खुल खुल जाहीं, हो ही जाते हैं दृग गीले।

बहुत सिखाया तुमने हमको, हम ये आँसू रोकें !
पर अब तुम ही नहीं आद्यगुरु ! पाठ भूलते रो के।
मन के गहरे में जो है व्रण, जो अभाव - कसकन है,
उस नीरव प्रचंड हाहा के अंशमात्र दो-दस दृग-कण है !

वह अभाव आ - चिता हमें तो कंधे पर ढोना है—
इस सलीब से शायद ईशू बनें, हमें दो आशीः !
परम सहज, निर्द्वन्द्व, मौन की प्रतिमे ओ ममतामयि !
हमें सिखा दो उस अपार धीरज की कनि क्षमयामयि !
सहसा यों लगता है, जैसे छत सिर पर से भागा,
आठ दिशा का रोष बढ़ा, मैं खड़ा अरक्षित और अभागा !
पिता अजाने वय में, माता भी अब स्वर्ग सिधारी
और रही स्मृति मात्र धूल में, उलझी गति मतिहारी !

कठिन आयुपथ, इस दुरंत मरु में छाया से शून्य संक्रमण,
कठिन स्नेह के बिना बिताना ये आगे की घड़ियाँ अकरुण।
जातकर्म के मंत्र अकारण याद आ रहे—"हे सरस्वती !
तेरा स्तन्य किसी ने पाया नहीं, सुप्त वह !" याज्ञवल्क्यस्मृतिः
"ॐ इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन् समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः[1] ॥"

---

१. "हे अग्नि ! उदकलोकमें रहनेवाला तू विशिष्ट रसयुक्त दुग्धसे परिपूर्ण ये स्तन इस कुमारको पीनेको दे। सर्वत्र गमनशील और स्वादयुक्त मातृस्तनका सेवन कर, तृप्त होकर, पयोधिकी भाँति मातृ-शरीरको ग्रहण कर। हे सरस्वती ! तेरा स्तन किसीने उपभोगा नहीं, इसलिए सुप्त है। जो स्तन सब प्राणिमात्रको सुख देनेवाला और जो किसीको भी दुनियामें दी नहीं जा सकती, वह वस्तु देनेवाला है। वह स्तन इस बालकको पीनेको दे !"

# प्रतिभाका मूल बिन्दु

"कहाँ जन्म है तेरा ?" मैंने पूछा जब प्रतिभा से,
"महलों में ? गुलगुले गलीचों पर ? गुलाब की क्यारी में ?
वृद्धों की चिन्ता में ? बच्चों की दंतहीन किलकारी में ?
बोलो तुम रहती कहाँ ? जानने को हम सब हैं कितने प्यासे !"

कवि बोला—"वह तो दिवास्वप्न की रानी है ;"
शिल्पी ने मिट्टी के लोंदे की ओर सहज संकेत किया ;
औ' चित्रकार ने फलक, वर्ण, तूली को महज समेट लिया;
गायिका कह गई—"क्या तूने दिव्य-स्वर की मदिरा पी है?"

क्या निरी कल्पना प्रतिभा है,क्या निरी सूझ की तितिल-परी ?
क्या प्रतिभा केवल नवनवीन विस्मय - उपजाऊ ऊहा है ?
प्रतिभा क्या है सन्ध्या - भाषा ? सिद्धों का पाहुड़ - दूहा है ?
प्रतिभा अनुभूति-रसायन है ? गहरे 'जीवन' की चल-शफरी ?

प्रतिभा बोली—"यातना, निरन्तर कष्ट - सहन की ताक़त में
मैं बसती हूँ संघर्ष - निरत साधक में, असिधारा-व्रत में ।"

१९५३ ]

रेडियोका गीति नाट्य

## मुक्ति देवता ! प्रणाम !

*( स्त्री-पुरुष समवेत गान )*

ओ भारत की जनता ।
विविध रंग की, विविध जाति की, विविध रूप जनता ।
यहाँ हिमालय की गोदी में
याक कारवाँ लिये
कई पहाड़ी बालक धीमे
तेनसिंग बन रहे ।
यहाँ परस्पर बन्धु भाव है उदारता सज्जनता ।
ओ भारत की जनता ।
इसी देश में साम गान से, ध्रुपद धमार चला था
इसी देश में शेर्पा छूता उच्च स्वर्ग का माथा
इसी देश में गाई श्री रवीन्द्र ने अपनी गाथा
व्यापी है अनन्त आशय से धरती की कण-कणता ।
ओ भारत की जनता ॥
कन्या कुँअरि खड़ी है लेकर
अक्षत कुँकम थाल
हिन्द महासागर पखारता
चरण-कमल चिरकाल
यहाँ त्याग ने पूजा पाई, अर्चित है अशरणता ।
ओ भारत की जनता ॥

६

( वीणा वादन )

वाचिका : इस भारत की जनता ने प्राचीन काल से
किया मुक्ति के लिए सतत संग्राम चिरन्तन
जहाँ न पहुँचे इतिहासों के पैने लोचन
आर्यों की उस आदि विजय के समय समुन्नत दिव्य भाल से
गाता है यह कौन राष्ट्र का सूक्त अभय स्वर…

वेदपाठी : अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहम्
अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः
अहं सोममाहनसं बिभर्मि
अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते
सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा

वाचक : यह राष्ट्री थी जो कहती थी
मैं प्रकृति के सभी बड़े तत्त्वों की साथिन
रुद्र और वसु, विश्वदेव, आदित्य, वरुण की
इन्द्र, अग्नि, अश्विन की पोषक ।
वही राष्ट्र-देवी धारण कर
शत्रुनाश करने वाले जन
त्वष्टा, पूष और भग सारे
हविष्मान्, यजमान और धन
वही ज्ञान की दात्री, भुवन विधात्री
सब वैभव की माता
उसके आगे हम सब गण-जन
सदा झुकावें माथा ।

वाचिका : यही शक्ति कहलाई वाक् तथा
सूर्य वेशयन्ती यह देवी
भूरिस्थात्र बनी। यों कुछ युग बीते
जब थी मुक्ति चतुर्फलदायी

वाचक : तब जीवन की, अर्थार्जन की, कम थी चिन्ता
ब्रह्म रंध्र के शून्यमहल में लगा अहंता
जीवन मुक्ति निरत था। हँसा नियंता
(विराट गम्भीर हँसी)

*( पुरुषों का समवेत गान )*

हम आचार
हम हैं केवल ब्रह्माचार।
हम विचार को बाँध जकड़ कर
सदा चलेंगे खूब अकड़कर
हम कर देंगे धर्म नीति को बस लाचार।
हम आचार।
यज्ञ भावना नष्ट हो गई निरी रूढ़ि में
आत्मा को हम भुला चलेंगे तनुः प्रौढ़ि में
हम बन्धन के भय का, स्वर्ग निरय का करें प्रचार।
हम आचार।

वाचिका : इसी भाँति जब जाति-पाँति से जन-जन जकड़ा
बना-बनाया यह समाज का वपु जब बिगड़ा।
आर्य सभ्यता जब कि हो गई दूषित खंडित।
नर-बलि, पशु-बलि हुई अदंडित, मूर्ख हो गये पंडित
तब भारत के जन-जन के मन से ध्वनि गुँजित
राजगृह की, वैशाली की प्रवुद्ध जनता अविजित
जब-जब ऐसा तिमिर देश में धुँधलाता गत-आगत
संत महात्मा हुए, और तब आये दीप्त तथागत

( स्त्री स्वर )

स्वागत

अहे तथागत ।

गौतम ओ सिद्धार्थ तुम्हें क्या हुआ ? राज क्यों छोड़ा ?
सुख वैभव से, राहुल-जननी से सब से मुँह मोड़ा ।
क्यों न तुम्हें भाई वाद्यों की, नृत्य-मदिर वह संगत
स्वागत, अहे तथागत ।
बन में जाकर रहे न बन कर बैरागी बड़भागी
क्यों समाज में लौट ज्ञान देने की इच्छा जागी
कैसा अष्टमार्ग सिखलाया, देश-विदेश अहिंसा का व्रत
स्वागत, अहे तथागत ॥

बुद्धं शरणं गच्छामि,
धर्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि,

बुद्ध के शिष्य : भगवन्, हमने देखा है यह
इतने भिक्षु भिक्षुणी जन सब
सुनते हैं उपदेश आपके
नहीं चल रहे उसी मार्ग पर
जिस पर आप चले थे ।

बुद्ध : नहीं, आवुसो,
मेरा आग्रह अंध अनुकरण करे न कोई
इतने मार्ग पूछते हैं पर
क्या सब ही जाते हैं उस पर
अपने दीप स्वयम् बनकर तुम चलो ।
राह तो सूझेगी ही
और लगेगा हम सब मानव
साधन नहीं, साध्य हैं निश्चय

(वाद्य ध्वनि)

वाचिका : युग बीते
मुक्ति की साधना बुद्धकाल से आगे आई
देश बन गया कई घोर परचक्रों का शर-लक्ष्य तमावृत
हूण और खश, तरुष्क औ' तातार आ गये
कई दिनों तक जीवन बना युद्ध का हस्तक
ऐसे समय कई संतों ने
दोनों पक्षों की कट्टरता, रक्तपिपासु अधर्म अन्धता
कोसी।
कहा उसी निर्भीक भाव से दोनों ही हैं दोषी

वाचक : संत कबीर कहीं इकतारा लेकर गाते बैठे।
किन्तु मुक्ति के लिए उक्ति के सागर गहरे पैठे
निर्गुण की पूजा को उनने नाथ-पंथ में ढाला
वह अद्वैत इरा, फीकी लगती सूफी की हाला।

(भजन)

साधो, देखो जग बौराना
साँची कहो तो मारन धावै, झूठै जग पतियाना ॥
हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं, मरम कोई नहिं जाना ॥
बहुत मिले मोहिं ऐसे धर्मी, प्रात करे असनाना।
आतम छोड़ि पखाने पूजें, तिनका थोथा ज्ञाना ॥
माला पहिरे टोपी पहरे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी सब्दै गावत भूलै आतम खबर न जाना ॥
बहुतक देखे पीर औलिया पढ़े किताब कुराना।
करैं मुरीद कवर बतलावे, उनहूँ खुदा न जाना ॥
या विधि हँसी चलत है हमको आप कहावै स्याना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना ॥

वाचिका : वह कबीरका युग था उसके बाद चार सदियों तक मूर्च्छा
सामंतों के चिर-विलास में डूबी जनता करती अर्चा
उस विकास अवरोध, और निर्वीर्य क्रोध की निरर्थ चर्चा

*(वाद्य कालान्तर बतलाते हुए)*

वाचक : युग बीते, आया अट्ठारह सौ सत्तावन
बलि को दिये चुनौती बावन
पुनः मुक्ति की चाह उठी जन की मन-भावन
सूखी धरती पर जैसे घिर आया सावन ।
आये ज्यों धराधर-धावन ।

*(युद्ध के बाद निनाद)*

अँग्रेजों ने जब देखा ऐसा मचा है गदर,
नायब शहरयार ने दखल कर लिया शहर
अकबाल से फिरंगी ने मुल्क अवध ले लिया ।
सब राजागन खौफ से हथियार धर दिया ।
फैला अमल फिरंगी का तिरसठ के साल में
बलवा हुआ है मुल्क में पैंसठ के साल में
अंग्रेज फिर दखल किया छियासठ के साल में
अकबाल से फिरंगी ने मुल्क अवध ले लिया
सब राजागन खौफ़ से हथियार धर दिया ।
तलवार और गोली और संगीन चलती थी ।
सदा जर्ब से ऊपर जब बत्ती जलती थी ।
आवाज उस तरफ से जमीं थर थराती थी ।
दुनिया में नाम रह गया शाही से आखिरी
अब कौन कर सकेगा ऐसी बहादुरी ?
बेगम निकलते वक्त खुद जंग क्या करी ?

*(सदियों का क्रमांतर)*

वाचिका : दांडी यात्रा के अग्रिम मानव ने सोचा एक उपाय
इस कोलाहलपूर्ण अनात्मिक संघर्षण में खूब प्रभावी ।

"हाराकिरी" न धार्मिक, आग्रहपूर्वक बलि जो होने जाय
वही अमर आत्मा भौतिक मर्त्यों के बल पर होगा हावी।
वह बलि पंथी प्रथम आत्मशुद्धि की कसौटी पर निज को कस
भूत रूढ़ियों से विमुक्त हो शासित कर सकता है भावी।
वही मृत्यु के वार झेल सकता है हँस-हँस, देकर सरबस
नूरे रूहानी से हल करनी होंगी उलझने सियासी।
युग के अनिर्वाप्य सुधितों का प्रतिनिधि होगा नित उपवासी
त्रावनकोर, यरवदा, राजकोट, पूना, औ धीर प्रवासी।

वाचक : "अतृणे पतते वह्नि" बुझ जाता है बिना जले
अहिंसा शक्ति के आगे निर्बल हैं शस्त्र, तोप, बम
हाथी ज्यों एक जा बैठा धरना दे, अडिग शक्तिवान
सड़क के "स्टीमरोलर" का यांत्रिक सामर्थ्य सब वृथा।
शत्रु की अन्तरात्मा को जीता, फिर क्या बचा रहा
हृदय की भावना बदली, प्रेम की वेदना सही।
क्षमा से बढ़कर क्षमता दंड क्या परिताप से ?
सत्ता जो अशरीरी है, विश्व व्यापी, सदाबली
टिकेगा उसके सम्मुख क्या सत्ता मद पाशवी ?
अहिंसा नीति सर्वोत्तम मानवी पूर्ण मानवी।

*( समवेत गान )*

छोड़ो, भारत छोड़ो !
काश्मीर से काँची तक औ' कामरूप से कच्छ
एक पुकार उठी ज्यों ज्वाला धूमिल, नभ में स्वच्छ
उपनिवेश के
दास्य-शेष के
इस स्वदेश के
बंधन तोड़ो, तोड़ो।
छोड़ो, भारत छोड़ो !
गांधी की वाणी थी मानो एक स्फुलिंग उठा था
धू-धू कर जल उठा देश सन् बयालीस की गाथा

आष्टी और चिमूर जल उठे
नौ - सेना के शूर जल उठे
निकट और अति दूर जल उठे
तन मन धन भरपूर जल उठे
दीप-दीप से त्यों मन-से-मन, जन-से-जन को जोड़ो।
भारत छोड़ो। छोड़ो॥

वाचिका : पाँच वर्ष तक और प्रतीक्षा की भारत माता ने
बहुत वहस, शब्दों के शर भी ताने
आखिर कब तक राष्ट्र-राष्ट्र को बाँधे रख सकता है ?
हुई विवश वैदेशिक सत्ता माँ बन्धन-मुक्ता है॥

वाचक : आज हवा में कुछ बागीपन, कुछ-कुछ और नया ही रंग
भूलो जीर्ण पुरातन सब कुछ अब नवीन का कर लो संग
अब वैराग़ नया ही होगा, नई फकीरी, नया जोग
और ज़ंग खाई-सी सडियल, रूढ़ श्रृंखला होगी भंग
हमें देश के मानचित्र का मान बढ़ाना ही होगा
हमें जहाँ सम्पूर्ण बढ़ाना वहीं बढ़ाना है प्रति अंग

*( समवेत गान )*

मुक्ति देवता प्रणाम।
हे अपूर्ण, पूर्णकाम।

जन-जन का सुख निधान
स म ता श्रि त संवि धा न
सब को हो भूमि दान
पहुँचे आदर्श धाम।
मुक्ति देवता प्रणाम।

सब को आवास, अन्न
सब को हो वस्त्र, धान्य
सब हों हर्षित प्रसन्न
सब को अब मिले काम।
मुक्ति देवता प्रणाम।

१९५३ ]

## एक सानेट

प्राण नहीं हैं मेरे सन चौवन के कैलेण्डर में सीमित
प्राण नहीं मेरे दिल्ली की शरणार्थी - बस्ती में कीलित
देश-काल से परे कल्पना-कमल उठा कीचड़ से बढ़ ही
वह कीचड़ के बिना नहीं है, किंतु नहीं है वह कीचड़ ही।
ईसा नहीं लकड़हारा या कृष्ण नहीं है अहीर केवल।
वह क्या है जो इन सबसे छनकर मेरी साँसों को दे बल?
मैं इतिहास-प्रवाह-पतित तिनका ही नहीं! मित्र, मैं चिन्मय!
मैं इन लहरों का आरोही, मैं अंकुर हूँ, मैं हूँ चिन्मय!
यह धरती कहलाती इसीलिए है धरा, दृढा या वसुधा
यह है रसा, अ-हल्या, यह तो बड़ी अपारा; सब सुख-सुविधा
दे देगी यह, पर न कभी माँगेगी मुझसे कुछ बदले में
यह मानव से प्यार करेगी, चाहे वह बदले नित खेमे!
मैं क्या केवल यह क्षण हूँ? या वाहक युग-युग परंपरा का?
सबको समतल करनेवाले! क्या मुझपर डालोगे डाका?

१९५४ ]

# विज्ञाकाया के दो पद

संस्कृत कवयित्री के दो पद
पढ़कर चित्त हुआ है उन्मद
भारी कंठ हृदय है गद्गद :
"कांत वियोग-शोक-वारिधि में
डूबी दीन अंगना लखकर
चाहे ये नव - वारि - भार - गुरु
घन सोत्साह निनाद करें पर ;
चाहे वात कदंब रेणुमय–
बहे और नाचें मयूर पर ;
तुम भी ओ बिजली स्त्री होकर
अकरुण इतनी ? चौंध रही हो ?"
विज्जाकाया के वे दो पद
पढ़कर मन होता जड़ श्वापद
बिखर बिखर जाता ज्यों पारद :
"अस्थिर, अनेकरंगी, टेढ़ा
जिसका सिर न पैर हम पाते
ऐसा गुणविहीन, सतरंगा,
आसमान में इंद्रधनुष या
धरती पर है चित्त युवति का"
क्षण में मिटता—
अंतर यह ग्यारह सदियों का !

१६५४ ]

## गीत

यह हवा है बुरी
तिक्त है माधुरी···
'दुक्ख' से है सनी यह खुशी
कामयाबी बनी खुदकुशी
यह शहद की छुरी
ऊजड़ी-सी पुरी !
प्राण के द्वंद्व से छंद यों जागते
कौन बैरागिया ? कौन से राग थे
चक्र के बिन धुरी !
कुष्ठमय सुंदरी
क्या हुआ ? क्यों हुआ ? वह कहाँ हिमगिरी ?
पुंश्चली है सती, शिव करें नटगिरी !
बाढ़ बनकर वहा पासबाँ, संतरी···
यह हवा है बुरी !

१९५५ ]

## मैं स्वतन्त्र हूँ···(?)

उसने कहा प्रेम करती हूँ
मैं बोला : मैं तो स्वतन्त्र हूँ
फिर मन ने मन से पूछा : क्या मैं स्वतन्त्र हूँ ?
इस निसाँस से, इस तन से, इस पेपरमिंट-प्राय चुम्बन से,
क्या स्वतन्त्र हूँ स्मृति के नाहक अचिन्त्य प्राय दाहक दर्शन से ?
हाँ स्वतन्त्र हूँ तुम से, इससे-उससे सबसे
ज्यों स्वतन्त्र है पद्म पंक से, पुरुष प्रकृति से, चन्दा घन से
मैं न किसी मन का अनुगामी
मेरा नहीं कहीं भी स्वामी
मुझमें नही पकड़ रखने की, मसक गूँदने की पशु-वांछा
पीछे छूट गये वे कायज रसास्वाद, ऐन्द्रिक आकांक्षा
अब मैं सभ्य, अधिक संस्कृत हूँ
क्रीत दास, या नहीं यंत्र हूँ
मैंने कहा : प्रेम करता हूँ
वह कह सकती है—स्वतंत्र हूँ, मैं स्वतन्त्र हूँ।

१९५५ ]

# महाबलीपुरम्

मेरे मन में
बसा हुआ है दक्षिण
बन कर स्मृतियों का धन।

चट्टानों पर चूर-चूर होने वाली
उत्ताल समुद्री मौजों का वह
प्रचण्ड, फेनिल,
धवल, अनाविल,
अहरह भैरव
अट्टहास रव

चिर-विरहिन कन्याकुमारिका
खड़ी लिये नवमधूक-माला
शुचीन्द्र के अम्बन् का वैभव।
द्राविड़-चैनिक संस्कृतियों का
मिश्रण; मलाबार के सुंदर
वास्तुशिल्प का अद्भुत वैभव।
पंप और वेमना तथा
एलुत्तच्छन् औ' एकनाथ या
कम्बन् की रामायण का रस।
बसा हुआ 'मानस' में चौरस
ज्यों मन्दिर के साथ तीर्थ हों।
ज्यों मन्दिर के सात तीर्थ हों !

कितने अद्भुत विविध-वर्ण के
पीले, लोहित, नील, स्वर्ण के
पुष्पों की सुगन्ध से मोहित
चन्दन-चर्चित वन-वन करता मन्त्रोच्चारण
मलय-पवन भागा करता निर्वसन पुरोहित;
प्रलम्ब मुक्त-कुंतला-बाला
या जूड़े ये नागवेणियाँ केतकि-उपवन
श्यामच्छाया के घन अंचल में जैसा सतरंगा रोहित !
दक्षिण भारत के वे विशाल गोपुर, कोविल,

भव्य वास्तु के, कुशल शिल्प के, स्मारक अक्षय
प्रस्तर में मानव का गौरव !
नागकन्यका दीपधारिणी,
अप्सरियाँ वे मनोहारिणी,
वे प्रशस्त औ' स्वस्थ मूर्त्तियाँ
उच्च स्वर्ग के नभचुम्बी शिखरों से ले कर
भूदेवी तक,
कितने सुर-नर-असुर शैव-वैष्णव, खग-पन्नग,
कितनी देवसभाएँ-चित्रसभाएँ, एक नया जग !
यक्ष और गन्धर्व, यक्षिणी, रति, गण, वाहन,
पुराण और इतिहास-लोक श्रुति का अवगाहन
कर कितने जन
श्रम का कण-कण

दे कर कितने वर्षों तक पत्थर को करते सार्थक
वे हैं केवल सागर की उत्तान लहरियाँ
जो चट्टानों पर सिर धुन-धुन
रह जाती कण-कण बिखेर कर
यहाँ मनुज ने छीनी से उन चट्टानों का
क्या कर डाला, शाश्वत, मनहर !

ऐसा दक्षिण
आज पुनः हो उदार-आशय
उदार-मनमय
क्षुद्र भेद तज कर हो चिन्मय।
निर्भय औ' निस्संशय!
पाये फिर से
महाबल परम।
महाबलि पुरम्!
मामल्लपुरम्!!

१९५५]

## अन्तरीप

अन्तरीप का अन्तिम छोर
देखने गया था मैं भोर
देखा सागर घोर,
रौद्र, भैरव, अखंड-रव रोर
भारी-भारी
नीली चीख़ें खारी !

कन्याकुमारी

वन्या से तीन दिशा के समुद्र
उत्ताल, तरंगायित,
फेन के पहाड़ अमित, चूर-चूर
दूर तक किनारा नहीं ।

लहरों पर लहरें
चट्टान
पानी की सतह में डूब गये पत्थर
पत्थर पर पत्थर
लहरें, बस लहरें
पत्थर नहीं पत्थर,
पत्थर नहीं, लहरें ।
लहरें अब कहाँ बचीं,
केवल हैं पत्थर ।

हज़ारों बरस
और लाखों बार
यह प्रहार
खाता पछाड़
मत्त भीम आकार का समुद्र
बनता तुषारमात्र क्षुद्र-क्षुद्र !

इस सागर-वेला पर
आ कर
यों लगता है : व्यर्थ जड़,
व्यर्थ यह महाभूत
व्यर्थ ताप, व्योम, भू
व्यर्थ आप,
व्यर्थ मैं, व्यर्थ तू

इन सब से बढ़ कर है
कोई संकल्प
जो अकल्पनीय

बीत गये युग-तल्प
जड़ के इस जड़ से ही जकड़े हुए
झगड़े में
बिगड़ा नहीं कुछ भी इस पत्थर का
बिगड़ा नहीं लहरों का
फिर से यह ज्वार
फिर उभार
फिर संहार
अन्तहीन, यंत्रवत्

क्रिया, क्रिया, क्रिया
केवल है नाम-रूप !

कुछ भी नहीं दिया
और कुछ भी नहीं लिया
सागर औ' साहिल की होड़ में

सिकता के क्रोड़ में
आयी वहाँ एक आदिमानवी
लिये मन के सुप्त किसी मोड़ में
कोई चेतनता
या इप्सा या प्रेरणा या ऐसा ही कुछ अनाम
जैसा था उसके हाथ में कि वह मधूकमाल—
किया मानव ने पत्थर को मुखर,
किया पत्थर के अन्तर में
लहर-छहर-संचार
छैनी के स्पर्श से।
चाहे वह मानव का केवल हो स्वप्न-कल्प
केवल हो वह विचार।

निश्चय, वह जड का है जड पर
नहीं धुनना सिर,
वह तो कुछ भिन्न है,
फिर भो अभिन्न वह जड़ से।
चेतन हो कर भी अचेतन है,
जैसे इस सागर की सतह पर फैला है
आदिदीप पूषण का
उस तेजोभूषण का
कान्तियुक्त, विविध-वर्णमय, प्रदीप्त,

ज्योतिः प्रसार वर्णनातीत,
उसके बिना सागर यह मैला है,
जैसे अकेला है।

आज भी भयानक है शीत
सख़्त ठंडी हवाएँ हैं
फिर भी हम आये हैं
गाते हुए वह शुचीन्द्र प्रिया-गीत।
साथी यह केरल के कविगण हैं।
कोई सूर्यस्तोत्र गुनगुना रहा :
"दारिद्र्यदुःखक्षयकारणं च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् !"

लम्बे-लम्बे मोम-कप्पड़ के पाल फैलाये, लिपटे-से
डाँड़ों पर मज़बूत मुट्ठियाँ कसे हुए
जाते हैं दैनिक निज आज्यार्जन-कर्म पर !
इन पर ही सरोजिनी नायडू ने लिखा था :
"दि कोरल-गैदरर्स आफ़ कोरोमंडल कोस्ट !"

स्फूर्तिप्रद दृश्य है
( मानव का पत्थरसे स्पर्श है
मानव की आँख का, सौन्दर्य-बोध का,
मेधा का स्पर्शमात्र हर्ष है )
मन होता ऐसे उत्फुल्ल पद्‌म-सदृश विकच।
आज मेरी समझ में ये आया—सच,
क्यों उन प्राचीनों ने सूर्य को ही देवता बनाया ?

नहीं आएगा समझ में यह अनुभव जी, उनके
रज़ाई जो मुँह पर ही ओढ़े नौ बजे तक

रात्रि जागरण से, घोर मद्यपान, क्वैवेरे से,
आरक्त नेत्र और दुर्गन्धित दाँत लिये
चिल्लाते हैं—"बैराऽ, नहीं लाये तुम बेड-टी !"
यह अनुभूति और स्तर की है
यहाँ की, वहाँ की नहीं, वह तो 'उधर' की है
नहीं सब की, वह तो अपर की है !

उन अनुभूति का दिव्य ध्यान यदि करना हो,
उस नयी हवा का आकंठ पान यदि करना हो,
ताज़गी का आनन्द-ध्यान यदि करना हो :

नहीं वह दिल्ली या लखनऊ-बनारस में,
नहीं वह गोष्ठी, कवि-सम्मेलन के वस में,
नहीं वह स्टूडियो में, रेडियो में,
( लेडियों में, भेड़ियोंमें )

उसके लिए फिर से जाना ही होगा हमें
उसी स्थान, उसी-क्षण, उसी अन्तरीप पर :
भारी-भारी, नीली चीखें खारी
लटें छितराये काली,
नाम जिसका है—कन्याकुमारी !
—विवेकानन्द रॉक !!

१६५५ ]

## पुलिन

होंगे
घोंघे
अपने ही कवचों में बन्द
उसमें ही लेते आनन्द।

होंगी सीपी
मोती के मातापन में ही मस्त।
रजतरंग से लीपी
ध्वनियाँ गुंजित करती श्रुतिमें व्यस्त।

होंगे शंख
कि जिन्हें महाभारत के गान,
प्रिय अक्षौहिणियाँ अभियान,
विष के डंख और इस्पाती पंख!

होंगे कितने ही स्फटिकों से पत्थर
नाना आकारों-रंगोंवाले प्रश्नोत्तर
—सबसे अनासक्त फिर भी जो सबसे भरी हुई
सबसे ही अलग, मगर सबसे ही पूरी हुई
यह साफ़ कणोंमें बिखरी, रिक्ता
फैली है जो सिकता
यह है उसकी स्वाभाविकता

केवल सिकता सिकता
स्वाभाविकता
सहज, तटस्थ, अधिकता
—नहीं स्वार्थ के कवच
न मुक्ताहल की लालच,
नहीं महत्त्वाकांक्षा वीरों के अधरों से छूकर
उनकी फूँक गुँजाऊँ भू पर
केवल मूक और चिर-उत्सुक
जनसाधारण का ज्यों सुख-दुःख
कितना है विस्तार यहाँ पर दिखता
कितने आँसू, कितना जीवन यहाँ छिपाये हुए
कि कण-कण क्षण-क्षण सब पैरों के निशान लिखता
काल घड़ीमें छन-छन, कितने पिछड़े और मिटाये हुए
सिकता यह अनसिक्ता !

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत सा तन रह गया है

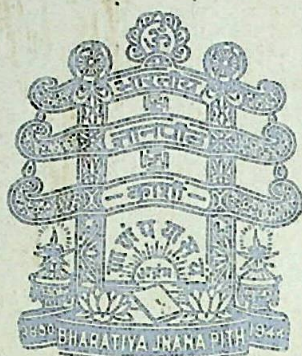
मैं नहीं ( कोई निराला ही ) कवि कह गया है
कह नहीं केवल कि दहती ज़िन्दगी में सह गया है।

प्रतीक्षातुरा सिकता
राह देखती एक पूर्णिमा में, निशीथ में
रजत फेन के मुक्ता दोनों मुट्ठी भरे फेंकता
ज्वार जब कि निज पूर्ण रसिकता महागीत में
व्यक्त किये आवेगा
वेगातुर धावेगा
तब कोई उन चरणों में यों चुपके से नत माथा
रखकर मौन अनन्त-शरण सुख पाता !
रोम-रोम में पंथ, ज्वारकी गाथा

अनभूली भाविकता
ऐसी सिकता, मेरे मन की,
सबकी इन साधारण जनकी
पावेगी नाविकता !

झूठ न कुछ भी टिकता
घुलकर सब कुछ हो जाता अनदिखता
सिकता, सिकता, सिकता
सहज मनुज के 'भाव' न कुछ भी बिकता।
इस सिकता में युरेनियम के कण हैं
यू रे अनियम···

१६५७ ]




भारतीय
ज्ञानपीठ
काशी

उद्देश्य
ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी
मौलिक-साहित्यका निर्माण

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मुद्रक—सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५.